भिक्षु स्वामी शंकरानन्द

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

भिक्षु श्रीशंकरानन्द गिरि

•

अनन्तश्री विभूषित
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज
एवं
श्रीस्वामी धीरेशानन्द पुरीजी के संकलन से

•

सम्पादक :
डॉ. उर्वशी ज. सूरती 'नारायणी'

•

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई / वृन्दावन

प्राक्कथन

भिक्षु स्वामीश्री शंकरानन्द गिरिजीका आपने-हमने दर्शन नहीं किया है—वे एक जीवन्मुक्त महात्मा। परन्तु इस पुस्तिकाके वाचनके पश्चात् आपको यह प्रतीत ही नहीं होगा कि आप उन्हें नहीं जानते—वरन आपको यह अनुभव होगा कि आप जितना उनके बारेमें जानते हैं उतना और कोई नहीं जानता, यह है आत्म विद्याका चमत्कार! गुरु ग्रन्थि नहीं, रस्सी ही गायव कर देते हैं। महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीने कैसे एक खण्डन-खण्ड-खाद्य-चित्सुखीमें रमण करनेवालेको भागवत सुनाकर रुलाया—कैसे एक जीवन्मुक्तने दूसरेको जीवन्मुक्तिकी अनुभूति करा दी एवं अनेक जीवन्मुक्ति सम्बन्धी सूक्तियाँ संकलित हैं—पाठक लाभ लें।

इस पुस्तिका का प्रथम संस्करण 'स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान' द्वारा सन् 1991 में हुआ था-एक अन्तरालसे यह अनुपलब्ध था, पूज्य महन्तश्री स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वतीजीकी आत्म विद्याके प्रति रुचि देखते ही बनती है, उनकी हार्दिक इच्छासे इस पुस्तिकाका नवीन कलेवरमें प्रकाशनका संकल्प पूर्ण करनेमें आर्थिक सहयोग किया—महाराजश्रीके परम प्रिय दिल्ली निवासी श्रीकेवलकृष्ण सेठीजीने, यह सपरिवार महाराजश्रीके चरणोंमें समर्पित हैं—इन्हें महाराजश्रीका आशीर्वाद प्राप्त है ही—हम सबकी ओरसे साधुवाद!

—ट्रस्टी

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

भिक्षु स्वामीश्री शंकरानन्द गिरि

अनुक्रमणिका

भिक्षु स्वामीश्री शंकरानन्द गिरि

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

मैं प्रायः प्रतिवर्ष कनखल जाया करता था। वहाँ श्रीहरिभारती विद्यालयमें, महामण्डलीश्वर (उन दिनों इसी शब्दका प्रयोग किया जाता था) अनेक शास्त्रोंके महान् विद्वान् स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज निवास करते थे और पढ़ाते भी थे। मैं उनसे शांकर भाष्य पढ़ता और विद्यालयके कतिपय लोगोंको पढ़ाया भी करता था। उनमें बरनालाके आत्माराम 'वैद्य', डॉ० ताराचन्द पर्वतीय, हरिनन्दन शास्त्री, जीवानन्द आदि मुख्य थे।

मेरी अशिष्टता

मैंने एक दिन स्वामीजीसे पूछा कि यहाँ कोई अच्छे महात्मा रहते हों तो आप बता दीजिये, मैं उनके सत्सङ्गके लिए जाया करूँगा। वे मेरी इस अशिष्टताके प्रश्न पर रुष्ट नहीं हुए। हँसकर बोले–'तुम्हारा अभिप्राय किसी विरक्त महात्मासे है न?' मैंने कहा–'हाँ।' वे बोले–'यहीं पासमें सुरतगिरिके बंगलेके दूसरी ओर अटल अखाड़ेका एक खण्डहर है, उसमें भिक्षु शंकरानन्दजी नामके महात्मा रहते हैं। तुम उनका सत्संग कर आया करो।' यह सन् 1930के लगभगकी बात है।

उस समयतक सुरतगिरिके बंगलेसे लेकर सड़कतक कोई इमारत बनी हुई नहीं थी। अब सब भर गया है। एक जीर्ण-शीर्ण पुराना घर था। छत कुछ टूटी हुई थी। मधुमक्खी एवं ततैयोंने अपना छत्ता लगा रखा था। धूल-धक्कड़ फैली हुई थी। भिक्षु शंकरानन्दजी उसीमें एक चबूतरेपर टाट बिछाकर रहते थे। शरीरपर लंगोटी मात्र थी। उद्दीप्त ललाट, सिरपर आगेकी ओर बाल नहीं थे। हँसते हुए उन्होंने पूछा–'कैसे आये?' मैंने कहा–'आपके दर्शनके लिए आया।' हँसी और तेज हो गयी।

वे बोले–'आपका दर्शन करो। आप ही आप हो। इसके लिए आने-जानेकी क्या आवश्यकता?' मुझे वेदान्तका संस्कार था। बात अच्छी लगी।

अलमस्त फकीर

ज्ञात हुआ कि वे चौबीस घण्टेमें एक बार भिक्षाके लिए गाँवमें जाते हैं। केवल एक ही बार खाते हैं। दूसरी बार केवल गंगा-जल पीते हैं। झोली खूँटीपर टँगी रहती थी। एक बड़ा-सा भोलुआ (कुल्हड़) रखा था, उसीसे पानी पी लिया करते थे। वह फूटने-पर ही बदला जाता था। वे सत्संगके अवसरपर प्रायः 'आत्मा' शब्दका प्रयोग करते थे, 'ब्रह्म'का नहीं। आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जब मेरे जीवनकी कुछ घटनाएँ उन्हें मालूम पड़ीं तब वे भागवतकी हँसी उड़ाने लगे। भक्ति-भावमें उनकी सर्वथा अरुचि थी। सगुण-साकार या उपासनाकी चर्चा उन्हें पसन्द नहीं थी। मैंने उनसे प्रार्थना की कि महाराज सम्भवतः आपने भागवतका अध्ययन नहीं किया है। मैं आपको थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन सुना दिया करूँगा। प्रार्थना स्वीकृत हुई। मैंने पहले एकादश स्कन्ध सुनाया। उन्हें बहुत अच्छा लगा। फिर सप्तम स्कन्ध सुनाया। प्रह्लादका विवेक, अवधूतकी रहनी, गृहस्थको परमात्माकी प्राप्तिका उपाय आदि सुनकर तो वे भागवत्के भक्त बन गये। वे बोले कि इसी लेखकने रास-लीला लिखी है, आश्चर्य है! मुझे वह भी सुनाओ। मैंने धनपति सूरिके अनुसार निवृत्ति-पक्षकी प्रधानतासे रास-लीला सुनायी और श्रीधरस्वामीके अनुसार उसके निवृत्तिपरा होनेको भी युक्ति-युक्त बताया। वे बहुत प्रसन्न हुए और लगभग तीन महीने तक नियमसे सुनते रहे।

अनुपम दक्षिणा

जब मैं कनखलसे वाराणसी आनेको हुआ तब उन्होंने मुझे एक दिन अचानक अपनी उस खण्डहर कुटियाके भीतर बुला लिया। वे टाट

बिछे चबूतरे पर और मैं नीचे धरती पर बैठ गया। उन्होंने मुझे सावधान करके कहा कि तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द-घन अद्वय तत्त्व हो। नारायण! तुम चाहे सफेद कपड़ेमें रहो या लालमें, घरमें या बाहर, यह निश्चय कर लो कि मैं जीव नहीं हूँ। यह जीवत्व तो देहाभिमानको नष्ट करके देहातिरिक्तत्वको समझानेके लिए है। कोई चिज्जड़-ग्रन्थि नहीं होती और अचित् नामकी कोई वस्तु भी नहीं होती। कुछ चमत्कार-सा ही हुआ, जब उन्होंने यह कहा कि यह मैं तुम्हें भागवत सुनानेकी दक्षिणा दे रहा हूँ। तब तो मेरा निश्चय और दृढ़ हो गया। क्योंकि भागवतके अनुसार ज्ञान-सन्देश ही दक्षिणा है। आप आश्चर्य करेंगे कि उस दिनके पश्चात् मुझे यह भ्रम कभी नहीं हुआ कि मैं जीव हूँ। इस विषयका पहला लेख मैंने मेरठसे प्रकाशित होनेवाले 'संकीर्तन' पत्रमें कुछ वर्षोंके पश्चात् लिखा था—'मेरी समस्त समस्याओंका समाधान' अथवा 'आत्मसाक्षात्कार'।

परिचय-सत्यनिष्ठा

भिक्षु शंकरानन्दजी अहमदाबादके पास किसी छोटे-से गाँवमें ब्रह्मभट्ट वंशमें पैदा हुए थे। वे बाल्यावस्थासे ही सत्यनिष्ठ थे। एक बार जो बात कह देते उसपर दृढ़ रहते और अपनी 'प्रतिज्ञा'का पालन करते। यह बात उनके माता-पिता, सगे-सम्बन्धी सब जानते थे। जो सत्य-प्रेमी नहीं होगा वह सत्यके साक्षात्कारके लिए तपस्या भी नहीं करेगा। क्योंकि सत्यके ज्ञानके लिए, तपस्या, विवेक-वैराग्य, जिज्ञासा आदि साधनोंकी आवश्यकता होती है। उनकी बुद्धिमें उस समय जो भी बात सत्य रूपसे निश्चय हो जाती उसके लिए वे बड़ा-से-बड़ा त्याग करनेको प्रस्तुत रहते।

होनहार बिरवानके होत चीकने पात

किसी समय भिक्षुजीके पिताने कहा कि बेटा अपनी दुकानके लिए अमुक वस्तुकी आवश्यकता है, तुम बड़े नगरसे जाकर ले आओ। २५० रुपये दे दिये गये। भिक्षुजी जब अपने घरसे जा रहे थे तो मार्गमें एक साधुओंकी मण्डली मिली, वह बगीचेमें पड़ी हुई थी। वेदान्तकी चर्चा हो

रही थी। उन्हें वेदान्तके सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्मकी चर्चामें अत्यन्त रुचि हुई और घण्टों तक ध्यानसे श्रवण करते रहे। सत्संगके अन्तमें महात्माने अपने प्रबन्धकको बुलाया और पूछा कि आज साधुओंके भोजनका क्या प्रबन्ध है? प्रबन्धकने बताया कि क्या-क्या वस्तु वहाँ है और क्या नहीं है। भिक्षुजीने अपने पिताके 250 रुपये उन्हें दे दिये और खाली हाथ घर लौट आये। पिताने पूछा—'सौदा ले आये!' भिक्षुजीने कहा कि रुपयेसे परमार्थका सौदा ले आया हूँ—जो अजर-अमर है। उनके दृढ़ निश्चयसे परिचित होनेके कारण पिताने कुछ भी नहीं कहा। भिक्षुजीके मनमें, 'प्रज्ञानघन, अद्वितीय ब्रह्म'का चिन्तन चलने लगा।

त्यागका निश्चय

भिक्षुजी सोचने लगे कि मैं सत्यका इतना आग्रह करता हूँ, परन्तु मुझे असली सत्य परमार्थका तो पता ही नहीं है। हम सभी, प्रत्यक्ष, परोक्ष पदार्थोंको 'ना' बोल सकते हैं; परन्तु अपनेको तो 'ना' बोल ही नहीं सकते। तब क्या आत्मा ही एकमात्र अकाट्य सत्य है? यदि आत्मा ही सत्य है तो इसके लिए अनात्माका विवेक, उससे वैराग्य और वैराग्यकी दृढ़ताके लिए त्याग करना ही पड़ेगा, त्याग ही वैराग्यकी कसौटी है। वैराग्यके बिना विवेक निर्बल है। त्यागके बिना वैराग्य निर्बल है। त्याज्यका निश्चय विवेकसे होता है। त्याज्य अनात्मा ही होता है। अतः आत्म-सत्यका अनुभव प्राप्त करनेके लिए विवेक-वैराग्य एवं त्याग आवश्यक है।

भीष्म-प्रतिज्ञा

हृदयमें पूर्वोक्त विचारोंका प्रवाह चल ही रहा था कि भिक्षुजीकी प्रेरणासे उनके पिताजीने सत्यनारायणकी कथाका आयोजन किया। उस दिन सगे-सम्बन्धी, सजातीय-विजातीय, गाँव-गाँवसे आकर इकट्ठे हुए। सत्यनारायणकी पूजा हुई। व्रतकथा पूर्ण हुई। प्रसाद-वितरणके अनन्तर भिक्षुजीने लोगोंसे कहा कि आपलोग थोड़ी देर रुक जाइये। एक सभा-सी

जुड़ गयी। भिक्षुजीने सबके बीचमें अपनी चोटी काट दी। यज्ञोपवीत निकालकर हाथमें ले लिया। लोगोंके बीचमें बोले कि परम्परागत आचार-विचारोंके अनुकूल मैंने अबतक अपने धर्मका पालन किया है। परन्तु इस धर्मके पालनसे मुझे, मेरे लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाय ऐसा विश्वास मेरे हृदयमें नहीं है। अतएव आप लोगोंके बीचमें मैं इसका त्याग करता हूँ और बाल्यावस्थासे ही जिस सत्यसे मैं प्रेम करता आया हूँ, अबतक जिसका पालन किया है, उसके यथार्थ-स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना, बीचमें कहीं भी नहीं रुकूँगा। उनकी यह प्रतिज्ञा सुनकर, उस सभामें उपस्थित एक भी व्यक्तिने उनका विरोध नहीं किया और उनकी प्रतिज्ञाके विपरीत किसीने कोई आग्रह नहीं किया। उनकी सत्यनिष्ठाकी समाजमें इतनी प्रतिष्ठा थी।

सत्यकी खोज

दूसरे दिन साबरमतीके तटपर आकर बैठ गये। 'सत्य क्या है?' इसका अनुसन्धान होने लगा। सत्य एकदेशीय नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि स्थान या देशके भेदसे सत्यमें भेद नहीं होता। वह, यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ, एक-सा ही रहता है। समयके भेदसे भी सत्यमें कोई अन्तर देखनेमें नहीं आता। अब-तब, आज-कल, दिन-रात सत्यको प्रभावित करनेमें असमर्थ हैं। वस्तुओंकी अनेकता भी आकार-प्रकार, विकार-संस्कार, यह सब अकेले-अकेले और मिल-जुलकर भी सत्यमें कोई परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा प्रवर्त्तन करनेमें अशक्त है। सत्य अधिष्ठान है ज्यों-का-त्यों एकरस उसके ऊपर अध्यस्त, विन्यस्त, आरोपित, कल्पित अथवा शास्त्र, बुद्धि एवं आचार्योंके द्वारा थोपी हुई कोई भी वस्तु, नाम, रूप आदि उसे किञ्चित् भी कलङ्क-पङ्कसे आवृत नहीं कर सकती। सचमुच 'सत्य' ऐसा ही है।

चिन्तन-धाराका ऊर्ध्वगामी प्रवाह

ऐसे 'सत्य'का जिसको कभी झुठलाया न जा सके, मिथ्या सिद्ध न

किया जा सके, उसका साक्षात्कार, अनुभव कैसे हो? यह जिज्ञासुके हृदयका एक ज्वलन्त प्रश्न है। वह 'सत्य' यदि नितान्त परोक्ष हो, तो सर्वथा कल्पित है। यदि प्रत्यक्ष है तो 'ऐन्द्रिक' प्रत्यक्ष अथवा साक्षी-भास्य होनेके कारण जड़ है। यदि सत्य जड़ है तो उसको पानेवाला भी जड़ हो जायेगा। यदि वह किसी युक्ति या वाक्यसे, वृत्तिके घेरेमें आ जाता है तो परिच्छिन्न हो जायेगा। उसका अनुभविता भी वृत्ति-पराधीन ही रहेगा। यदि वह कल्पित है तो 'अकल्पित सत्य' क्या है? इस प्रकार चिन्तनकी धारा 'सत्य'की ओर अग्रसर हुई। वह समुद्रकी ओर बह नहीं पा रही थी, सुमेरुके उत्तुङ्ग शृङ्गपर आरूढ़ हो रही थी। दूसरेका चिन्तन, जिज्ञासुका अज्ञान नहीं मिटा सकता। अपना चिन्तन ही अज्ञानावरणको क्षीण करता जाता है। 'सत्य'की किञ्चित् चमक भी महान् होती है।

यह शरीर जिस उपादानसे बनता है, उसके साथ अटूट सम्बन्ध रखता है मिट्टीसे बना शरीर, मिट्टीसे बने अन्नकी अपेक्षा रखता है। रक्त, रस, जलपर निर्भर है। ऊष्मा बाह्य तापकी, तेज, अग्नि, सूर्यकी अपेक्षा रखती है। प्राणोंमें वायु चाहिए। अवकाश आकाशके बिना नहीं होता। यह शरीरमें प्रकाशमान चेतन किसी परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश चेतनके बिना कैसे हो सकता है? जिसको शरीरके पाञ्चभौतिक सम्बन्धोंका भी ठीक बोध नहीं होता, वह इस आत्म-चैतन्यके अलौकिक स्वरूपको कैसे जान सकता है?

नियमकी दृढ़ता

साबरमतीका वह तट आज भी ज्यों-का-त्यों है। जिसके निकट बैठकर भिक्षुजीने आत्म-चिन्तन किया था। प्राणोंने शरीरकी रक्षाके लिए, क्षुधाकी निवृत्तिके लिए भोजनकी माँग की। उन्होंने निश्चय किया कि आज अर्थात् विद्वत्-संन्यासके प्रथम दिन जिस पद्धतिके भोजनकी व्यवस्था बनेगी वही आजीवन धारण की जायेगी। थोड़ी-ही देरमें एक विरक्त संन्यासी, ग्रामसे भिक्षा लेकर तटपर आये। झोलीमें भिक्षा कुछ

अधिक थी। पहले वह अधिक भिक्षा बाँट देनी पड़ती है। फिर समूची झोलीको नदीमें डुबोकर सब-का-सब खाना होता है। यह संन्यासके लिए विधान है। संन्यासीने देखा, एक अपरिग्रही युवा शिखा-सूत्रहीन, तन्मय-सा सामने बैठा हुआ है। उसने पूछा–'क्या तुम मेरी भिक्षाका कुछ अंश ले सकते हो?' युवकने स्वीकृतिसे ग्रहण कर लिया। वही जीवन भरके लिए भिक्षाका नियम बन गया–माधुकरीके द्वारा क्षुधाकी निवृत्ति। रात-दिनमें केवल एक बार। दुबारा इलायची भी नहीं। जल केवल दो बार। नियम इतने पक्के थे कि जीवनके मध्याह्न कालमें भी इसीके अनुसार अन्न-ग्रहण करते थे।

चिन्तन, द्रुत-गतिसे चलता रहा। चिन्तनका मुख यदि बाहरकी ओर हो, देश-काल और वस्तुओंका आदि-अन्त ढूँढ़ने लगे तो अन्धकारके अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। चेतनका साक्षात्कार करनेके लिए प्रवृत्ति नहीं निवृत्ति चाहिए। बाहर नहीं भीतर–चिन्तनके मूल अधिष्ठान, प्रकाशकको, स्पर्श करनेका नहीं, उससे एकताकी ओर ध्यान देना चाहिए। सम्पूर्ण पदार्थोंका मूल, भानात्मक आत्मा है। कोई उत्पादक उपादान नहीं। मनको जाने मत दीजिये; अपने पास आने दीजिये। मनमें विषयोंका प्रतिबिम्ब मत देखिये, अपना प्रकाश देखिये। जड़ता नहीं जड़ताका ज्ञान।

विधिवत् संन्यास-ग्रहण

हाँ, तो उन्हें पर्वतोंकी तलहटीमें, हरे-भरे अरण्यमें, गंगाकी पावनी धाराने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। साबरमतीके तीरसे पैदल चलकर हरिद्वार गंगाजीके तटपर पहुँचे। प्रवाहित धारासे समीप ही बैठ जाइये। वह बह रही है–आप शान्त, तटस्थ, कूटस्थ हैं। प्रकृतिके चञ्चल स्वरूपको देखिये। वह अनेक है, आप एक हैं। वह अनित्य है, आप नित्य हैं। वह दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। उसमें प्रियताका आभास है, आप प्रिय हैं। बिना प्रयत्नके ही स्वरूप स्थिति-सी होने लगेगी। विशेषकर उन

दिनों गंगाके तटपर विरक्त 'त्यागियों' एवं जिज्ञासुओंका आना-जाना अधिक होता था। लोगोंने इस युवात्यागीको देखा। 'कौतूहल' हुआ। लोगोंने इनका इतिकृत्य देखा, इतिवृत्त पूछा। कुछ विद्वान् महात्मा मिले। उन्होंने इन्हें परामर्श दिया कि जब आपका वैराग्य, त्याग एवं चिन्तन उत्कृष्ट है, उच्चकोटिका है, तो आप विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण करके इस विद्वत्-संन्यासको वैदिक विधिके अन्तर्गत कर लें। संन्यास किसी आचार्यके द्वारा समय-विशेषमें आरब्ध सम्प्रदाय नहीं है। यह वैदिक आश्रम-व्यवस्था है। इससे जीवन-निर्वाह और तत्त्वज्ञानमें सुविधा प्राप्त हो जाती है। उन्होंने विद्वानोंकी इस प्रेरणाको अङ्गीकार करके सुरतगिरिके बंगलेमें विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया और उनका नाम शंकरानन्द गिरि हो गया। चिन्तन चलता रहा। भिक्षाका नियम वही रहा। तभीसे अटल अखाड़ेके खण्डहरमें रहने लग गये थे।

जिज्ञासुओंके लिए उपयोगी बातें

कोई भी जिज्ञासु जब सत्यके अनुसन्धानमें लगता है तब उसके सम्मुख विचारकी अनेक विधाएँ एवं सत्यके विविधरूप सामने आने लगते हैं। प्रत्येक प्रश्न अपने समाधानके लिए एक अज्ञात मार्गसे चलने लगता है और कभी-कभी असत्यको ही सत्य मानने लगता है। विचार कान्दिशीक हो जाता है। इससे मुक्त रहनेका उपाय यह कि पहलेके ऋषि-मुनियोंने जिस रीति-नीतिका अनुसरण किया है, पहले उसको हृदयंगम कर लिया जाय। विचारकी पवित्रतामें शुद्ध आचार तो हेतु है ही, शास्त्रीय मार्गका ज्ञान और प्राचीन जिज्ञासुओंका अनुगमन भी हेतु होता है। विवेक-वैराग्यके साथ, शम, दमादि सम्पत्ति भी चाहिए तथा सत्यके साक्षात्कारके लिए तीव्र अभीप्साकी भी आवश्यकता होती है।

शास्त्रका अध्ययन भी दो प्रकारका होता है। एक तो वैध-पद्धतिसे-विद्वानोंसे परम्परागत अध्ययन। दूसरा होता है तीव्र मुमुक्षासे गुरुके चरणोंमें शरणागत होकर आत्मा एवं ब्रह्मके स्वरूप तथा एकताके

बोधक शास्त्रोंका श्रवण। मुमुक्षु जिज्ञासुको यह जानना आवश्यक है कि शास्त्रोंके दो रूप हैं।

1. जो अपूर्व वस्तुको उत्पन्न करनेकी विधिका प्रतिपादन करते हैं। जैसे—यज्ञ-यागादिका। इनसे प्रयत्न-साध्य सीमित फलोंकी उत्पत्ति होती है। इनका जिज्ञासुके लिए केवल इतना ही उपयोग है कि वे उसके अभीष्ट साध्य वस्तुका नश्वर रूप प्रकट कर दें और सत्यके जिज्ञासुको उससे वैराग्य हो जाय। वह समझने लग जाय कि कृतक या बनावटी पदार्थ कभी-न-कभी मिट जाते हैं। उनकी एक सीमा होती है।

2. शास्त्रका दूसरा प्रकार वह होता है जो वस्तुतः सर्वदा विद्यमान, एकरस परमार्थ-वस्तुपर जो अज्ञानका आवरण-सा प्रतीत होता है, उसको निवृत्त कर दे और नित्य-प्राप्त वस्तुकी प्राप्ति-सी करा दे। ठीक मार्ग-दर्शन तभी होगा जब इसके लिए सन्त-सद्गुरुके द्वारा वेदान्त-शास्त्रका श्रवण-मनन किया जाय।

निरभिमानिता

भिक्षु शंकरानन्दजीने हरिद्वार, 'कनखल'के अनेक महात्माओंसे श्रुति एवं दर्शन-शास्त्रोंका अध्ययन किया। वे अध्ययन करनेके लिए किसीके भी पास चले जाते थे। उन्हें अपनी श्रेष्ठताका कोई अभिमान नहीं था। अभिमान जिज्ञासुको उत्तम ज्ञानसे वञ्चित रखता है। उन्होंने श्रीमंगलगिरिजी महाराजसे न्यायशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया। वेदान्त-शास्त्रकी एक-एक प्रक्रियाकी जानकारी प्राप्त की। अब वे एकान्तमें बैठकर मनन-निदिध्यासन करने लगे।

लक्ष्यकी ओर बढ़ती चिन्तन-धारा

'दृश्यमान' प्रपञ्च परिवर्तनशील है। नित्य नया विकार, नित्य नया संस्कार। वृक्षमें लगा फल बढ़ता है, पकता है, सड़ता है और नष्ट हो जाता है। शरीरकी भी यही दशा है। झरनेकी धारा वही-वही दिखती है, परन्तु प्रत्येक क्षणमें कितनी नयी धाराएँ आती हैं और पुरानी नष्ट हो जाती

हैं। फिर इस प्रपञ्चमें भोग्य क्या है? 'मैं वही भोग भोग रहा हूँ'—यह विकल्पमात्र है, न मनमें सर्वदा रहनेवाली रुचि है और न तो भोक्तामें नित्य जागरण है। सुषुप्ति भोक्ताको भी शान्त कर देती है। 'ऐसी' स्थितिमें भोक्ता-भोग्यका भाव निस्सार है।

दृश्य पदार्थोंमें अस्ति-अस्तिका पृथक्-पृथक् भान, उनकी खण्ड रूपता ही परिचायक है। वे अपने प्रकाशके लिए आत्म-चैतन्यकी अपेक्षा रखते हैं, अतः वे जड़ हैं। उनके साथ तादात्म्य करके मैं भी जड़-सा हो जाता हूँ। दृश्य वस्तुमें कितनी भी दिव्यताकी कल्पना की जाय, वह प्रकाश्य होनेसे जड़ रहेगी; उसका भानाभान पराधीन रहेगा। 'ऐन्द्रियक' प्रत्यक्ष होने पर 'कादाचित्क' खण्ड-खण्ड, दैशिक एवं नश्वर ही रहेगी। 'मानस-प्रत्यक्ष', मनोराज्य, स्वप्न तथा गन्धर्वनगरके समान रहेगा। सुषुप्तिकालमें इनका अज्ञान रहेगा। परोक्षकी कल्पना करनेपर अज्ञात रहेंगे—इनके होनेका अनुमान निर्मूल होगा। उन्हें सुनकर विश्वास करना पड़ेगा। कल्पना भी केवल साक्षी-भास्य होगी। 'ऐसी' स्थितिमें दृश्यमें सत्यको ढूँढ़ना, बिना भित्तिके चित्र या आकाश-कुसुमकी माला गूँथनेके समान है। जब अन्यके रूपमें सत्यका साक्षात्कार नहीं हो सकता और यदि साक्षात्कार-सा प्रतीत हो तो भी भ्रममात्र ही होगा तब आत्माके अतिरिक्त दूसरा कोई सत्य नहीं हो सकता। आत्माकी सत्ताके बिना ईश्वर, जीव, जगत्, कारण-कार्य, वेद-शास्त्र, गुरु, शरीर आदिकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। अतः प्रतीतिका जो मूल स्वरूप एवं प्रकाशक आत्म-चैतन्य है, वही सत्य होना चाहिए।

लक्ष्य-प्राप्ति : 'सत्य'का साक्षात्कार

क्या सत्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है या ज्ञानसे सत्यकी उत्पत्ति? जिसकी उत्पत्ति होगी उसका प्रलय भी होगा। उत्पत्ति-प्रलयशील पदार्थ, अनित्य तथा मिथ्या होगा। न वह आत्मस्वरूप ज्ञान होगा और न सत्यस्वरूप अधिष्ठान होगा; 'सत्य', जड़ एवं अपने 'अभावके'

अधिकरण ज्ञानमें प्रतीति-मात्र होगा। दोनों न हों तो शून्यका साक्षी कौन होगा? अतः साक्षी ही सत्य अर्थात् अबाधित होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि साक्षीका अनुभव कैसे हो? 'यह साक्षी है', ऐसा अनुभव तो वदतोव्याघात है। 'वह साक्षी है', यह एक कल्पना है। यदि मैं ही साक्षी हूँ तो 'मैं'की परिच्छिन्नता और साक्षीकी परोक्षता असम्भव है। 'ऐसी' स्थितिमें आत्मसत्य ही ज्ञानस्वरूप अद्वितीय सत्य है। हाँ, यही तो महावाक्योंका तात्पर्य है। फिर यह बोध महावाक्यसे ही क्यों हो? 'तत्' तथा 'त्वं' पदार्थकी एकताका, अखण्डताका बोधक जिस किसी भाषाका जो भी वाक्य हो, वह 'तत्'की परिच्छिन्नता तो बाधित कर ही देगा। केवल अखण्डार्थका बोध ही अपेक्षित है, वह किसी भाषामें भी तत्-त्वं पदार्थके अभेदका बोधक अर्थात भेदभ्रान्तिका निवर्तक होना चाहिए। आश्चर्य है! आश्चर्य है!! अपना आत्मा अद्वितीय परमार्थ सत्य है। आत्मा अर्थात् अद्वितीय ज्ञान। सत्य अर्थात् कभी बाधित न होनेवाला। कहाँ, किसको, कौन ढूँढ़ रहा था; नित्य-प्राप्तकी प्राप्ति चाह रहा था। नित्य-निवृत्तको निवृत्त करनेमें लगा था। बस, अब कोई कर्त्तव्य, प्राप्तव्य, त्यक्तव्य तथा ज्ञातव्य नहीं है। अज्ञानकी निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष-स्वरूप है। आत्मा-सत्य ही परमानन्द है।

भिक्षु शंकरानन्दकी वैराग्य एवं बोधकी प्रतिष्ठा फैलने लगी। क्योंकि आस-पास जो विद्वान् थे वे विरक्त नहीं थे। जो विरक्त थे वे विद्वान् नहीं थे। यथार्थ ज्ञान एवं यथार्थ वैराग्य प्रायः एक साथ ही रहते हैं। उपरति हो तब तो कहना ही क्या! साधुओं और जिज्ञासुओंका मुख अटल अखाड़ेके उस खण्डहरकी ओर गया। भिक्षुजी कोई प्रवचन-उपदेश नहीं करते थे। परन्तु, जिज्ञासुओंकी शंकाओंका समाधान किया करते थे। कोई-कोई, विचारसागर पढ़नेके लिए भी आने लगे। इन्हीं दिनों, सर्व-शास्त्रोंके महान् विद्वान् महामण्डलेश्वर श्रीभागवतानन्दजीके संकेतपर मेरा भी वहाँ आना-जाना होने लगा था और उनका अनुग्रह प्राप्त हुआ था।

केवल आत्म-चिन्तन

मैं प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म ऋतुमें कनखल जाता था। अध्ययन, अध्यापनके अतिरिक्त भिक्षुजीका सत्संग होता। वे कर्म-उपासना और योगका परम्परा-साधनके रूपमें समर्थन नहीं करते थे। भिक्षुजी केवल सत्संग, विचार एवं चिन्तनसे ही तत्त्व-ज्ञानका प्रतिपादन करते थे। इसका प्रभाव एक ओर तो जिज्ञासुओंपर पड़ा कि हमें बिना साधन-विशेषके ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जायेगा; दूसरे जो वेदान्ती, उपासना तथा योगका उपदेश करके शिष्य बनाया करते थे और समझाते थे कि बादमें तत्त्वज्ञान हो जायेगा, उनके पास सत्संगियोंका आना-जाना कम होने लगा। इसकी मठोंमें प्रतिक्रिया हुई। मठपति लोग इनका विरोध करने लगे। कुछ सत्संगी यहाँ-वहाँ दोनों जगह जाते तथा इनका खण्डन उनसे सुनते और उनका खण्डन इनसे सुनते। बात बढ़ती गयी। कुछ लोग इस प्रयत्नमें लगे कि भिक्षुजी यहाँसे चले जायँ। आँख बचाकर गुण्डे लोग सत्संगके स्थानपर मल-मूत्र त्याग कर जाते। हमलोग उसकी सफाई कर लेते।

दोषका पूर्णतः निवारण

एक दिन कोई नये सत्संगी पहले आ गये। उन्होंने देखा सत्संगके स्थानपर मल-त्याग किया हुआ है। वे चुपचाप बालू उठाकर ले आये और उसपर डाल दिया। सत्संगके समय जब लोग आये और वहाँ बैठने लगे तो एक सज्जन उस बालूपर ही बैठ गये। उनके वस्त्र खराब हो गये। भिक्षुजीने कहा कि दोषको ढँकना नहीं चाहिए। उसका पूर्णतः निवारण कर देना चाहिए नहीं तो वह फैलता है और दूसरोंको भी मलिन बनाता है। बात आयी-गयी हो गयी। वैराग्य तथा तत्त्वज्ञानकी चर्चा विशद-रूपसे बढ़ती गयी। उनका कहना था कि वैराग्यवान् जिज्ञासुको बोध होनेमें कोई विलम्ब नहीं होता। एक ही प्रतिबन्ध है—वैराग्यकी न्यूनता। वैराग्यवान्‌के हृदयमें सत्यकी जिज्ञासा हो ही जाती है।

वात्सल्य एवं विरक्तिकी पराकाष्ठा

जब मैं उसके बादवाले ग्रीष्म-ऋतुमें गया तो भिक्षुजी मौन थे। न कोई सत्संग था, न कोई हलचल। उस खण्डहरमें चार अङ्गुल ऊँची धूल पड़ी हुई थी। ततैयोंने छत्ते लगा रखे थे। मधु-मक्खियाँ भी थीं। मैंने उनसे पूछा कि मैं यह धूल उठाकर बाहर फेंक दूँ। झाड़ू लगा दूँ। किरासिनका तेल छिड़ककर हड्डे और ततैयोंको उड़ा दूँ? उन्होंने मना कर दिया। मैंने निवेदन किया कि मैं तो आपके सत्संगके लिए ही वाराणसीसे आया हूँ। आप मौन हैं, इसलिए अब मैं लौट जाऊँगा। वे अपने मौनका नियम छोड़कर बोल पड़े-'देखो! मैं जानता हूँ कि यह टूटा-फूटा खण्डहर शरीर, प्रतीयमान कोई भी वस्तु, न मैं हूँ, न मेरा है, न सत्य है। इस स्थानसे मेरी कोई ममता नहीं है। परन्तु, ये चींटियाँ, मधुमक्खियाँ, ततैये आदि इनकी पूरी ममता है। अतः इसके मालिक तो वे ही हैं, मैं नहीं हूँ। यहाँसे मेरा निकल जाना अच्छा है, उनको निकालना अच्छा नहीं है।' मुझे उनकी बोली सुनकर हर्ष हुआ। भिक्षुजीका वात्सल्य देखकर हृदय आनन्दसे भर गया। सम्भव है आलोचना-प्रत्यालोचनासे बचनेके लिए ही उन्होंने मौन ले लिया हो।

एक वर्ष बाद, पुनः जब मैं कनखल गया तो वे उस खण्डहरमें नहीं थे। बड़ी कठिनाईसे उनका पता चला। वे बड़ी नहरसे निकलनेवाले बम्बेके पास एक छोटेसे बगीचेमें रह रहे थे। अत्यन्त कृश एवं रुग्ण थे। उनसे मिलनेपर ज्ञात हुआ कि किसी ईर्ष्यालु व्यक्तिने भिक्षामें उन्हें विष दे दिया था और लोगोंने उनको उस खण्डहरमें-से निकालकर सुरक्षित स्थानपर रख दिया था। वे उसके बाद छः महीने तक वहीं बगीचेमें रहे तथा परवलके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते थे। पानी भी परवलका ही पीते थे। परवल (संस्कृत-शब्द 'पटोल')में विष पचानेकी अद्भुत शक्ति है। मैं यथाशक्ति उनकी सेवा करता रहा। धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। वे कहा करते थे-'इस मिथ्या शरीरका तो अपने आप ही त्याग हो जाता

है। इसके त्यागका प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? रहे-रहे, जाये-जाये। इसको रखना एवं त्यागना दोनों ही अज्ञान है।' उस विष-ग्रस्त अवस्थामें भी उनका खल्वाट ललाट शीशेकी तरह चमचम चमकता था। मुखपर प्रसन्नता खेलती रहती थी। बात-बातमें विनोद करते थे। बादमें उनके पास दूसरे सम्प्रदायोंके सन्त भी प्रश्नोत्तरके लिए आया करते थे।

उसके बादवाले वर्षमें जब मैं गया तो वे एक झोलेमें लिखने-पढ़नेकी सामग्री लेकर कनखलसे दक्षिण दिशामें, छोटी नहरके किनारे कहीं मिले। एक जानकार सज्जन, मुझे उनके पास ले गये थे। मैं तर्क-वितर्क करता और वे न्यायशास्त्रके अनुसार पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग करके उसका खण्डन करते। एक दिन किसी प्रसंगमें उन्होंने मुझसे कहा कि जैसा तुम कह रहे हो उससे तो बौद्ध-मतकी प्राप्ति होती है। मैंने कहा-'मुझे मत-मतान्तरमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि वही सत्य हो तो मैं स्वीकार करनेके लिए तत्पर हूँ।' इसपर वे बहुत प्रसन्न हुए कि हाँ, 'ऐसा' ही होना चाहिए। जिज्ञासु यदि दुराग्रह करेगा तो उसका 'विपर्यय' कभी निवृत्त नहीं हो सकता। इसके बाद उन्होंने श्रुति-अनुकूल युक्तियोंके द्वारा मेरे प्रश्नका समाधान कर दिया। अब वे भिन्न-भिन्न वृक्षोंके नीचे रहने लगे थे। कभी कहीं मिले कभी कहीं। वर्षा हुई, भींग गये। ज्वर चढ़ आया, पर वे अपने हठपर अडिग थे। जब मूर्च्छित होने लगे तब उन्हें बलात् उठाकर श्मशान घाटके पास एक बड़े मकानके कमरेमें लाया गया। वह मकान बहुत दिनोंसे खाली पड़ा था। बहुत मजबूत था, सुरक्षित था। उस कमरेमें पहुँचनेके लिए दो-तीन दरवाजे पार करने पड़ते थे। कमरा हवादार था। दूर-दूर तक गंगाजीका दर्शन होता था। अच्छे हुए, तब उसमें रहना उन्होंने स्वीकार कर लिया। रोग और वृद्धावस्थाके कारण शरीर निर्बल हो रहा था। परन्तु, उनकी वाणीमें व्यंग, हँसी, दृढ़ता टपकती रहती थी। भिक्षा भी भक्त लोग वहीं ले आते थे। हम लोगोंको भी

उससे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं 'कल्याण'के सम्पादन-विभागमें रहा। बादमें संन्यासी हो गया। परन्तु, उनके पास आना-जाना, प्रेम-सम्पर्क ज्यों-का-त्यों बना रहा।

इधर बीचमें उन्होंने मठियों एवं मण्डलियोंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिख दी थीं और वह सब प्रकाशित हो गयी थीं। संन्यासियोंके मनपर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। अधिकांश उनसे रुष्ट हो गये। जब लोगोंको ज्ञात हुआ कि संन्यासी लोग इन्हें पसन्द नहीं करते तब कम्युनिस्ट, आर्यसमाजी एवं दूसरे सम्प्रदायके साधु इनके पास आने-जाने लगे और इन्हें उत्साहित भी करते। मेरा अनुमान है कि पुस्तकोंके प्रकाशनकी व्यवस्था भी ऐसे ही लोगोंने की थी।

मेरी धृष्टता

इसमें सन्देह नहीं कि वे मुझसे बहुत प्रेम करते थे। परन्तु, मुझे उनका यह विरोध-कार्य पसन्द नहीं था। अतः मैंने एक दिन उनसे कहा-'आप इनकी निन्दा न करें तो अच्छा है।' वे हँसकर बोले-'तुम ऐसे लोगोंका पक्ष क्यों लेते हो?' मैंने कहा-'उनकी निन्दा नहीं होगी, यदि प्रशंसा होगी तो लोगोंके हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ेगी।' वे बोले-'मैं निन्दा इसलिए करता हूँ कि पाखण्डियोंके प्रति लोगोंके हृदयमें अन्धविश्वास न रहे। वे भूलें-भटके नहीं। साधनाके मार्गपर अग्रसर हों।'

मैंने एक दिन कहा-'आप जो लोगोंके बारेमें निन्दाके प्रवचन करते हैं, वे द्वेषसे प्रेरित हैं।' वे ठहाका मारकर हँसने लगे और बोले-'कोई भी व्यक्ति सोचकर, बैठकर, खड़े होकर, क्रोधमें, व्यंगमें कैसे भी बोलता है, इससे क्या? वह जो बोल रहा है, वह सत्य है कि नहीं? यदि उसका वचन यथार्थ है, सत्यका बोध करानेवाला है, तो वक्ताकी स्थिति और वचनकी भाषा देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जो कहता हूँ वह सत्य है, इसकी जाँच-पड़ताल कोई भी कर सकता है।' मैंने बड़ी ढिठाईसे मुस्कराकर कहा-'मुझे तो आपका कहा झूठ लगता है।' वे

हँसकर बोले–'तुम सत्य बोलकर बताओ।' वे समझाने लगे कि परमार्थ-दृष्टिसे जो मैं कहता हूँ, वह भी झूठ है और जो तुम कहते हो वह भी झूठ है। झूठ–सचका भेद, जबतक व्यवहार है, तबतक रहता है और उसको मानना भी हितकारी है। यही भेद जिज्ञासुको अभेद तक पहुँचाता है।

मैं और सुदर्शनसिंह 'चक्र' किसी प्रसिद्ध साधुके पाससे लौटकर भिक्षुजीके पास आये थे। उनके पूछनेपर हम लोगोंने बताया कि जिनके पास हमलोग गये थे, उन्होंने अपने जीवनके सम्बन्धमें बताया। हम पूछते थे उनसे 'ब्रह्माकार वृत्ति' तथा 'जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख' और वे बताते थे कि किस-किस राजाने हमारा क्या-क्या सत्कार किया। हमलोग भिन्न-भिन्न रीतिसे प्रश्न करें और वे तुरन्त अपने अभिनन्दन-पत्रोंकी चर्चा शुरू कर दें। इसी प्रसङ्गमें उस साधुने बताया कि हम हिमालयमें घोर तपस्या कर रहे थे। भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सामने प्रकट हुए। उन्होंने कहा, 'तुम्हारा तप' अब पूरा हुआ। अब यह गीताकी पुस्तक लो और जाकर लोगोंमें इसका प्रचार करो और लोक-संग्रह करो। यह सुनकर मेरे मनमें आया कि भगवान्ने इन्हें किस प्रेसकी छपी पुस्तक दी है। भिक्षुजी बोल पड़े–'मुझे भी भगवान् श्रीकृष्णजीके दर्शन हुए। उन्होंने मुझसे कहा–'मेरा नाम लेकर गीता देनेकी बात करनेवाला साधु सर्वथा बेईमान एवं झूठा है। तुम लोगोंमें जाकर उसकी धूर्तता प्रकट कर दो।' मैंने भिक्षुजीसे पूछा–'आप ऐसा निरा गप्प क्यों हाँकते हैं?' वे हँसकर बोले–'साधक-बाधक सब समसत्ताके ही होते हैं। स्वप्नकी प्यास स्वप्नके जलसे ही बुझती है और जाग्रतकी प्यास जाग्रतके जलसे। झूठ, झूठसे ही कटता है। न वे प्रमाणित कर सकते हैं कि उन्हें कृष्ण-दर्शन हुआ है और न मैं ही। उनकी भी कल्पना, हमारी भी कल्पना सारा वेदान्त अज्ञान-मूलक कल्पनाओंको, शास्त्रीय कल्पनाओंके द्वारा ही काटता है।'

स्वतन्त्र चिन्तन :

मैं 'कल्याण'के सम्पादन विभागमें रहते समय भी जब सेठ

जयदयाल गोयन्दकाके सत्सङ्गके दिनोंमें स्वर्गाश्रम जाता-तो भी मनमें उनसे (भिक्षुजीसे) मिलनेकी ही लालसा रहती। उन्हें 'कल्याण'का यह प्रचार पसन्द नहीं था कि बात-बातमें भगवान् दर्शन देने आ जाते हैं। उनका कहना था कि इन बातोंसे स्वतन्त्र चिन्तनके उदयमें बाधा पड़ती है और मनुष्य, पाखण्डियोंके प्रति अन्धविश्वासके गर्तसे निकल नहीं पाता है।

संन्यासी होनेके पश्चात् भी मैं भिक्षुजीके पास प्रायः ही जाया करता। कराँचीके हेमनदास जो वेदान्तके अच्छे विद्वान् थे और 'प्राच्य दर्शन समीक्षा'के लेखक स्वामी श्रीशान्तिनाथजी महाराजके सेवक थे, भिक्षुजीके पास आया करते थे। उनके साथ गम्भीर 'तत्त्व-चर्चा' हुआ करती थी तथा शान्तिनाथजीके तर्कों एवं युक्तियोंका खण्डन हुआ करता था। हेमनदासजी मुझे बहुत प्रेम करते थे एवं भिक्षुजी और शान्तिनाथजी के विचारोंकी समीक्षा किया करते। शान्तिनाथजीकी विशेषता यह थी कि भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें जो पूर्व पक्षकी युक्तियाँ हैं, उनका संग्रह कर लेते थे। उत्तर पक्ष नहीं लेते थे। अतः खण्डनोंका संग्रह हो जाता था। मण्डन बेचारे धरे रह जाते थे। मैं उनसे 1-2 बार मिला। साक्षीके अबाधित होनेके सिद्धान्तपर, मेरा और उनका वाद-विवाद हुआ। परन्तु, उनको बहुत ही शीघ्र क्रोध आ जाया करता था और विचार बन्द हो जाते थे। भोजा भगत भी 'विचार-सागर'के अच्छे ज्ञाता थे, जो भिक्षुजीके पश्चात् वृन्दावन आ गये।

ऋषिकेषमें वेदान्तके बहुत बड़े विद्वान् स्वामी स्वरूपानन्दजी थे। वे भिक्षुजीके पास बारम्बार आया करते और अच्छा सत्सङ्ग जमता था।

चेतनदेवजीकी कुटिया

संन्यासी-मण्डल मुझसे तो सन्तुष्ट था परन्तु भिक्षुजीसे रुष्ट था। मैं किसी संन्यासीके स्थानमें ठहरता तो उन लोगोंका मेरा भिक्षुजीके पास आना-जाना पसन्द नहीं आता। अतः मैंने श्रीचेतनदेवजीकी कुटियामें

ठहरना शुरू कर दिया। वहाँ मेरे लिए ठहरनेका विभाग अलग था। भोजन भी अलगसे बन जाता था और वहाँके महन्त श्रीगुरुमुखदाजी मुझपर बहुत श्रद्धा व प्रेम करते थे।

शास्त्रार्थ चुनौती

इन्हीं दिनों भिक्षुजीने एक शास्त्रार्थकी चुनौतीके रूपमें परिपत्र प्रकाशित कर दिया। अब वह पर्चा तो मेरे पास नहीं है। परन्तु जहाँतक स्मरण है, उसमें तीन बातें मुख्य थीं। (1) तत्त्वज्ञान होनेके पूर्व , अन्तःकरण पूर्णरूपसे शुद्ध हो, यह नियम ठीक नहीं है। (2) केवल औपनिषद महावाक्योंसे ही तत्त्वज्ञान होता है, यह नियम भी ठीक नहीं है। किसी भी भाषाके अखण्डार्थ-बोधक वाक्यसे, तत्त्वज्ञान हो सकता है। (3) तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात्, ज्ञानी पुरुष शास्त्रोक्त विधि-निषेधके घेरेमें ही रहेगा, ऐसा मानना वेदान्त-शास्त्रके विरुद्ध है।

जब मैं उनके पास गया, पूछा–'यह आपने क्या किया?' वे बोले कि पण्डितोंका मस्तिष्क कुछ काम करने लगेगा और जिज्ञासुका उत्साह बढ़ेगा। वे धीरे-धीरे कई दिनों तक अपना अभिप्राय समझाते रहे।

अन्तःकरण-शुद्धि कितनी अपेक्षित है?

अन्तःकरणमें तीन दोष माने गये हैं। मल, विक्षेप एवं आवरण। इनमें आवरणकी निवृत्ति केवल तत्त्वज्ञानसे ही होती है। ऐसी स्थितिमें तत्त्वज्ञानसे पूर्व आवरण-भंग नहीं हो सकता। आवरणके रहते अन्तःकरणको पूर्ण शुद्ध नहीं माना जा सकता। और भी–मल, विक्षेपकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान होनेके पूर्व, क्षण-दो-क्षण या वर्ष-दो वर्ष कितने समयसे रहनी चाहिए अथवा होनी चाहिए, इसकी कोई मर्यादा नहीं है। तत्त्वज्ञानके अव्यवहित-पूर्वक्षणमें ह्री न! उसी एक क्षणसे जब प्रयोजन-पूर्ति हो जाती है तब तत्त्वज्ञानके उत्तर क्षणमें पूर्व-पूर्व वासनाओंका प्रवाह होता है कि नहीं? यदि होता है तो भले ही वे वासनाएँ बाधित हों, परन्तु अन्तःकरणमें अशुद्धिकी धारा तो बहती ही रही। फिर तत्त्वज्ञानके

पूर्व अन्तःकरण शुद्ध हो गया तो यह अशुद्धियाँ कहाँसे आयीं? श्रीविद्यारण्य स्वामीने जीवनमुक्ति-विवेकमें तत्त्वज्ञानके अनन्तर अभ्यासकी आवश्यकताका प्रतिपादन करते हुए कहा कि किसी-किसीको वासनाक्षय एवं मनोनाशके साथ ही तत्त्वज्ञान होता है, तो किसी-किसीको पहले तत्त्वज्ञान एवं पीछे वासनाक्षय, मनोनाश होता है। कृतोपास्ति एवं अकृतोपास्तिका भी अन्तर पड़ता है। तत्त्वज्ञानके पश्चात् ज्ञानरक्षा, तप, विषम-वादाभाव दुःख-निवृत्ति एवं जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखका अनुभव करनेके लिए अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। यदि अन्तःकरण पूर्णरूपेण शुद्ध होनेपर ही तत्त्वज्ञान होता है तो उसके पश्चात् अभ्यास करनेकी क्या आवश्यकता होती। इस सम्बन्धमें 'त्रिपुरा-रहस्य'के उस राजाका दृष्टान्त भी ध्यान देने योग्य है, जिसको पतित दशामें भी तत्त्वज्ञान हो गया था। योगवासिष्ठ भी देखिये!

ज्ञानमें भाषा-भेद बाधक नहीं

यह निश्चित है कि नित्य-परोक्ष वस्तुका ज्ञान वाक्यसे ही होता है और वह परोक्ष ही होता है। इसी प्रकार नित्य-अपरोक्ष वस्तु भी यदि अज्ञात हो तो उसके अज्ञानकी निवृत्ति 'दशमस्त्वमसि' जैसे वाक्यसे होती है और वह अपरोक्ष ही होता है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अखण्डार्थके बोधक हैं, यह तो ठीक है—परन्तु, यदि जिज्ञासुको किसी भी भाषामें बोलकर अखण्डार्थका बोध कराया जा सके तो उसमें क्या आपत्ति है? जिज्ञासुके हृदयमें ऐक्याकार-वृत्तिका क्षणमात्रके लिए उदय ही अभीष्ट है। वेदान्तोंमें जिसे वेदाध्ययनका अनधिकारी माना गया है, उन्हें भी इतिहास-पुराण एवं भाषा-ग्रन्थोंके द्वारा तत्त्वज्ञान होना माना गया है। भाषा-भेद अकिञ्चित्कर है। ज्ञान किसी भाषासे हो उसमें वेद-वाक्य अथवा संस्कृतका ही नियम नहीं हो सकता।

विधि-निषेधका वास्तविकतासे सम्बन्ध नहीं

जब पाप-पुण्यका कर्तृत्व, सुख-दुःखका भोक्तृत्व, स्वर्ग-नरक

आदिमें गमनागमनरूप संसारित्व तथा परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है, तब विधि-निषेध किस कर्त्ताको अपना आश्रय बनायेगा और उसका नियामक कौन होगा? अतएव उसमें जितनी भी प्रवृत्ति या निवृत्ति दिखायी पड़ेगी सब आभास मात्र होगी एवं फलके उत्पादनमें अक्षम होगी। अतएव ज्ञानी पुरुष चाहे जैसे भी रहे वह परमात्मामें ही रहता है। श्रुति कहती है तत्त्वज्ञानीको पुण्य-पाप नहीं लगते। वह सुकृत-दुष्कृत दोनोंका विधूनन कर देता है। पूर्वाघका विनाश हो जाता है, एवं उत्तराघका आश्लेष नहीं होता। पुण्यकी भी यही दशा होती है। कर्म और उसके फलकी गतिविधि, अज्ञानीके लिए अज्ञानकी दृष्टिसे ही है, वास्तविकतासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यह तो भिक्षुजीकी और मेरी बात हुई।

पञ्चपुरीमें इस बात पर वाद-विवाद छिड़ गया और शास्त्रार्थकी चुनौतियाँ भी दी गयी। समय भी निश्चित हुए। परन्तु, कोई शास्त्रार्थ नहीं हो सका। समय पर कोई आया-गया नहीं। यह बात यहीं समाप्त हो गयी।

सभी साधन समादृत

श्रीशांकर-सम्प्रदायकी यह विशेषता है कि वह अधिकारीकी योग्यताके अनुसार सभी साधनोंको स्वीकार करता है। धर्म, उपासना तथा योग, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए उपयोगी हैं। साधनका क्रम स्वीकार न किया जाय तो सम्प्रदायकी परम्परा चल नहीं सकती। इसीसे विवेक-वैराग्य, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षाको बहिरंग साधनके रूपमें मान्य किया गया है। करणकी शुद्धि बहिरंग है, लक्ष्यकी शुद्धि अन्तरंग है। श्रवण आदि लक्ष्य शुद्धिके लिए है। लक्ष्यके स्वरूपका अज्ञान तद्-विषयक श्रवणसे निवृत्त होता है। संशय, विपर्ययकी निवृत्ति, मनन; निदिध्यासनसे होती है। उत्तम अधिकारी श्रवण मात्रसे ही कृतार्थ हो जाता है। प्रमाण-प्रमेय विषयक संशय-विपर्यय हों तो मनन-

निदिध्यासनसे दूर हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें भिक्षु शंकरानन्दजीकी घोषणा विस्फोटक थी। परन्तु, थोड़े-ही दिनोंमें सबकुछ शान्त हो गया।

उनकी कितनी ही बातें ऐसी हैं, जो बार-बार स्मृति-पथपर आती-जाती रहती हैं। वैसी ही एक बात सुनिये-

तुम कहाँ बैठे हो?

मैं एक बार रातके समय किसी स्टेशनपर रेलगाड़ीमें बैठा। यात्री सो रहे थे। मैं जहाँ बैठा, वहाँ एक पेशावरी सज्जन सो रहे थे। उन्होंने लेटे-ही-लेटे पाँवसे मुझे पीटना शुरू कर दिया। मैं चुपचाप बैठा रहा। अन्तमें उन्होंने मुझे महात्मा गाँधीका चेला बताकर अपना क्रिया-कलाप बन्द कर दिया। इससे मेरे मनपर दुःखकी एक छाया आ गयी। मैंने भिक्षुजीसे पूछा कि इतना दुःख क्यों हुआ? वे हँसते हुए बोले कि उस समय तुम ऐसे स्थानपर बैठे हुए थे जहाँ तुम्हें अपमान मिलना ही उचित एवं हितकारी था। मैंने पूछा-'सो कैसे?' वे बोले-'कोई गन्दी नालीमें या कूड़ेके ढेरपर बैठ जाय तो उसके ऊपर गन्दगी ही तो डाली जायेगी न! तुम जब हड्डी-मांस-चर्बी-मल-मूत्रके ढेरको 'मैं' समझकर बैठोगे तो तुम्हें और क्या मिलेगा? जिसने तुम्हें अपमान दिया, वह तुम्हारा हितैषी था। उसने यह उपदेश किया कि तुम इस शरीरको 'मैं' मेरा मानकर मत बैठो। अपनेको शुद्ध-बुद्ध, निरञ्जनमें ही स्थिर करो।' यह बात यह लेख लिखनेसे 50 वर्ष पहलेकी होगी। परन्तु कभी-कभी मनमें आती ही रहती है।

प्रबुद्धानन्द द्वारा सेवा

भिक्षुजीका शरीर छूटनेके कुछ मास पूर्व अतिशय अशक्त हो गया था। घुटनेमें पीड़ा अत्यधिक, किसी सहारेके बिना खड़े होने पर पूरा-का-पूरा शरीर थर-थर काँपने लगता था। एक बाँकी बड़ी लकड़ी रख छोड़ी थी। उसीके सहारे उठते-चलते थे। परन्तु उनके मुख-मण्डलपर वही ज्योतिर्मय दिव्य तेज था। आँखोंमें वही चमक, वही अभिनय-

कला, वही व्यञ्जना-शैली-विनोदपूर्ण हास-परिहास। इस बार मेरे साथ प्रबुद्धानन्द भी थे। जब हमलोग मोटरमें हरिद्वारसे दिल्लीके लिए रवाना हुए तो मार्गमें मेरे मनमें आया कि प्रबुद्धानन्द इनके पास रहकर कुछ दिनतक भिक्षुजीकी सेवा करें तो अच्छा रहेगा। वे बताते हैं कि उस समय मेरे मनमें भी ऐसा ही आया। मैंने उनसे कहा और वहीं मोटरसे उतार दिया। वे उनके पास गये। दिनभर सेवा की। गाँवमें भिक्षा माँगकर भोजन कर लिया। रातके समय भिक्षुजीने कहा-'मैं रातके समय अकेला ही रहता हूँ, तुम यहाँसे चले जाओ।' प्रबुद्धानन्दने आग्रह किया कि रातको आप मल-मूत्र त्याग करने उठना चाहेंगे तो मैं आपकी सहायता करूँगा। आप रातको मुझे यहीं रहने दीजिये। भिक्षुजीने कहा कि 'अच्छा! यदि मेरे प्राण निकलने लगेंगे तो डाँट लगाकर रोक लोगे क्या? यदि नहीं, तो यहाँ रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं जीवन भर अकेला ही रहा हूँ। रातके समय मेरे पास कभी कोई नहीं रहा है। तुम यहाँसे चले जाओ।' उसके बाद प्रबुद्धानन्द प्रतिदिन रातके समय वहीं पासके श्मशानमें जाकर सो जाते। दिनमें सेवा करते। मधुकरीपर निर्वाह करते। लगभग तीन मासतक उनके पास रहे। उनके सत्संग, आलाप, व्यंग, विनोद, पुराने महात्माओंके वचन सुनते रहे और उनकी अद्भुत आत्मनिष्ठाका चमत्कार देखते रहे। जिसमें शोक-मोहके लिए किञ्चित् भी अवसर नहीं था।

डायरी से

प्रबुद्धानन्दकी डायरीमें लिखे हुए कुछ वचनोंका सार आपके सम्मुख प्रस्तुत है :-

1. भक्तने भगवान्से कहा-'हे प्रभो! मुझे कुछ दीजिये।' भगवान्ने कहा-'अरे मूर्ख भक्त! तूने ही तो बैठाया है-मेरी कल्पना की है। अब तेरी एक आँख फूटी कि दोनों फूट गयी, जो मुझसे माँग रहा है?'

2. आपै लीपे, आपै पोते, आपे काढ़े होई।
   आँधी पड़के बेटा माँगे, अकल राँड़ की खोई।।

स्त्रियाँ भीतपर एक चित्र वनाती हैं और साष्टांग धरतीपर पड़कर उससे अपने मनोरथकी पूर्ति चाहती हैं। इस वचनमें उनको बुद्धिहीन बताया गया है।

3. जबतक अहं-मम नहीं मिटता, तबतक सब जगत् सत्य लगता है। अहं-मम मिट जानेपर, बन्धन और मोक्षका भेद भी सच्चा नहीं रहता।

4. दृश्यके सम्बन्धमें अधिक ऊहोपोह करनेकी आवश्यकता नहीं है। कार्य-कारण दोनों तुच्छ हैं। साक्षी द्रष्टाके विपयमें चिन्तन करो। सब समस्याओंका समाधान हो जायेगा।

5. द्रष्टा-दृश्यका भाव भी व्यावहारिक ही है। सहस्त्र-सहस्त्र प्रयत्न करनेपर भी द्रष्टा, दृश्य नहीं हो सकता, आत्मदेव स्वयं नित्य प्राप्त हैं। वे अप्राप्त थोड़े ही हैं कि उनको ढूँढा जाय।

6. तुम-तुम करते थक गया। तुम कभी आँखोंके सामने नहीं आये। जब अन्तर्मुख होकर देखा तो 'मैं'का कृत्रिम वेश धारण करके तुम ही खड़े हो। वस्तुतः न तुम तुम हो; न मैं मैं हूँ। इस पृथक्ताके भ्रमके मिट जानेपर वह हेतु दृष्टान्तरहित वाङ्मनसागोचर स्वरूप साक्षात् अपरोक्ष ही है।

7. मान्यता परोक्षज्ञानमें ही होती है। साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानमें मान्यताके लिए कोई भी स्थान नहीं है। उक्त दृष्ट-श्रुत सब मिथ्या है। अहं-त्वं-तत्, यह भी एक व्यवहारकी प्रणाली है, परमार्थ नहीं। मिथ्याके मिथ्या हो जानेपर भी प्रपञ्च सत्य नहीं हो जाता। अखण्ड आत्मा ही सत्य है।

8. लोग तो आदेश-उपदेश-निर्देश एवं सन्देश देते ही रहते हैं। उससे प्रपञ्चमें कुछ परिवर्तन हो गया हो, ऐसा तो नहीं दीखता। वहीं-के-वहीं दूर्वा एवं कुश ज्यों-के-त्यों हैं।

9. सब भेद मनके स्फुरित होनेपर ही रहते हैं। मनके शान्त हो जानेपर भेद नहीं भासते। अतः अनुभवकी कसौटीपर भेद-भाव खरे नहीं उतरते।

10. मधुर वाणी, नियमयुक्त व्यवहार तथा सबको कुछ-न-कुछ देना-यदि तुम्हारे जीवनमें ये तीनों हैं तो सच्चिदानन्द-घन ब्रह्म तुम्हें प्राप्त ही है, दूर नहीं है।

11. रूप न रेख न रंग कछु,
तिहु गुणसे प्रभु भिन्न।
तिसही बुझाये 'नानका'
जिसु होवे सुप्रसन्न।।

12. जबतक स्वयं तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हो जायेगा, तबतक गुरुकी वाणी भी परोक्ष अर्थकी ही प्रतीति करायेगी साक्षात्की नहीं।

13. यह मन ब्रह्मा यह मन शिव।
यह मन पंचतत्त्वका जीव।

14. अंधला नीच जाति परदेशी
क्षिण आवे क्षिण जावै।
ताकी संगत्ति नानक करता
क्यों कर मूढ़ा पावै।

15. स्वरूपानन्द ही ब्रह्मानन्द है। स्वरूपसे अतिरिक्त कोई ब्रह्म है, यह कल्पना ही अमंगल है।

16. जैसे नट अभिनयके समय संकेतोंके द्वारा अभावका भी भाव बताता है। वैसे ही श्रुति भावाभावका निरूपण करती है। स्वप्नमें देश-काल-वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, अन्तःकरण, जीव कुछ भी नहीं होते परन्तु, प्रतीत होते हैं। स्वल्प कालमें स्वल्प देशमें, स्वल्प वस्तुओंका इतना महान् हो जाना तो सम्भव ही नहीं है। स्वप्न टूट जानेपर तो कुछ रहता ही नहीं। सुषुप्ति इस बातको और भी स्पष्ट कर देती है।

17. मनके रहनेपर साधन-साध्य, आराधना-आराध्य, कुछ भी नहीं रहते। अतएव सब मानसिक ही हैं। आत्मा-परमात्माकी एकताका ज्ञान होनेपर ही मन मरता है, अन्यथा नहीं।

18. परमार्थ सत्य आत्मामें, पूर्व-पश्चिम, वाह्य-अभ्यन्तर आदि देश नहीं है। भूत-भविष्य आदि काल भी नहीं है। जो कुछ बाह्याभ्यन्तर आदिके रूपमें भासता है, वह अज, अविनाशी परमार्थ ही है।

19. पद्मे मूढजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरः
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्ति मूर्खे रतिः।
मूर्खेभ्यो नितरां ददामि द्रविणं तत् कारणं श्रूयताम्
विद्वान् सर्वजनेषु पूजिततनुः मूर्खस्य नान्या गतिः।।

माँ लक्ष्मी! आप मूर्खोंको धन देती रहती हैं। विद्वानोंसे आपको कोई चिढ़ है क्या? इस प्रश्नका उत्तर लक्ष्मीजी यों देती हैं–'मुझे न मूर्खोंसे प्रेम है, न विद्वानोंसे द्वेष। मेरे भेद-व्यवहारका कारण सुन लो– विद्वानोंको तो सर्वत्र सत्कार प्राप्त हो जाता है। मूर्खोंको तो मेरे अतिरिक्त कोई गति ही नहीं है।'

20. हे दारिद्र्य नमस्तुभ्यं सिद्धोऽहं त्वत्-प्रसादतः।
पश्याम्यहं जगत्-सर्वं न मां पश्यति कश्चन।।

हे दरिद्रते! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारे कृपा-प्रसादसे मैं सिद्ध हो गया। क्या सिद्धि है? मैं सबको देखता हूँ, मुझे कोई नहीं देख पाता।

21. वस्तुतः अभाव अनेक नहीं होते। प्रागभाव सान्त है। प्रध्वंसाभाव सादि है। अन्योन्याभाव सादि, सान्त, उभयात्मक है। इसमें-से कोई भी अनादि, अनन्त पदार्थ नहीं है। इनमें इनका कोई समवायी नहीं रहता। अतः इन अभावोंको पदार्थ मानना समीचीन नहीं है।

22. केवल अत्यन्ताभाव ही ऐसा है जिसको अनादि अनन्त मान सकते हैं। परन्तु इसका (अत्यन्ताभावका) प्रतियोगी कौन है? जिसका अभाव होता है, वही प्रतियोगी होता है। सम्पूर्ण अनात्म पदार्थोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिए वही अत्यन्ताभावका प्रतियोगी है। ऐसी अवस्थामें प्रतियोगी एवं उसका अत्यन्ताभाव एक साथ रहेंगे और एक साथ प्रतीत होंगे। प्रतियोगी त्रैकालिक नहीं होगा अत्यन्ताभाव त्रैकालिक

होगा। अज्ञानीकी दृष्टिसे प्रतियोगी पदार्थ, यथार्थ प्रतीत होनेपर भी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे अनिर्वचनीय ही प्रतीत होंगे। जब अनादि, अनन्त अत्यन्ताभाव अपने अद्वितीय अधिकरण प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वसे पृथक् नहीं रहेगा, तब ब्रह्मातिरिक्त वस्तु ही नहीं रहेगी। अतः साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें यही अन्तर होता है कि पहलेके लिए प्रपञ्च सत्य है और तत्त्वज्ञानीके लिए प्रपञ्च भासमान होनेपर भी आत्मासे अतिरिक्त सत्ता नहीं रखता। इसमें व्यवहार प्रतिभास एवं परमार्थ-सत्ताका त्रैविध्य भी कल्पित हो जाता है। माया, जीव आदि पदार्थ भी अनादि नहीं है। अनादित्वेन कल्पित है। अतः प्रत्यगात्मा ही सत्य है, अबाधित है, अद्वितीय है एवं व्याप्य-व्यापकभावसे रहित है। इसका न किसीसे अन्वय न व्यतिरेक। अन्वय-व्यतिरेक द्वितीयके साथ होता है। जहाँ द्वैत है ही नहीं वहाँ अन्वय-व्यतिरेकको कल्पना नहीं है।

उनके भक्त : उनकी जीवनी

प्रबुद्धानन्द तीन मास तक वहाँ रहे। भिक्षा माँगकर खाते, श्मशानमें सोते एवं दिन-भर उनकी सेवा करते। अब भिक्षु शंकरानन्दजीके कई भक्त वहाँ सेवामें आगये। भिक्षुजीका उठना-बैठना भी बन्द हो गया था। पड़े-पड़े ही सारा व्यवहार होता। उनके सेवकोंमें बेंगलूरकी कुछ देवियाँ मुख्य थीं। अब मुझे उनका स्मरण नहीं है, भिक्षुजीका शरीर पूरा होनेपर वे उनका एक चित्र और कुछ पर्चे दे गयी थीं—पुस्तक लिखनेके लिए। परन्तु, वह चित्र ब्लॉक बनाने योग्य नहीं था और पर्चोंमें कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। साथ-ही-साथ वे अपना चित्र एवं जीवनी भी छपवाना चाहती थीं, इसलिए मैंने नहीं लिखी। उन लोगोंका दिया एक हजार रुपया भी मेरे पास पड़ा रह गया। फिर उन लोगोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं हो सका। भिक्षुजीका स्मरण अब भी बार-बार होता है। प्रबुद्धानन्द तथा दूसरोंसे भी उनकी चर्चा बार-बार होती रहती है। वे एक अद्भुत सन्त थे। उनका जीवन एकरस था।

|| ॐ ||

गागरमें सागर

यदीयं कारुण्यं पततिं गतपुण्येऽपि मनुजे
तथा वाणीबिन्दुः पिबति भवसिन्धुं घटजनिः।
स्मरामि प्रातस्तं समविषमभेदैकदलनं
अखण्डानन्दं श्रीगुरुवरमहं ब्रह्म परमम् ।।

ब्रह्मलीन परम पूज्यश्री स्वामी शंकरानन्दजी (भिक्षुजी)के सत्संगसे स्वामी धीरेशानन्दजी पुरी द्वारा संकलित पाण्डुलिपि मुझे सौंपते हुए परम पूज्यश्री स्वामी गोविन्दानन्दजीने कहा-'हमारे महाराजश्रीने इस पाण्डुलिपिके प्रकाशनकी सूचना दी है। आप इसका सम्पादन कर दीजिये।'

मेरे लिए यह आदेश गुरुकृपा और हरिकृपाका दुगुना प्रसाद है। ऐसी वाणीकी खोज थी और उपलब्ध हो गयी। महाराजश्री अनेक बार स्वामी शंकरानन्दजीका नाम लेकर उनकी वेदान्त-विषयक निरूपण-शैलीका उल्लेख करते हुए उनकी फक्कड़ प्रतिभाका प्रेमपूर्वक स्मरण करते थे। 'हरि-गुरु-संत' की इस त्रिवेणीमें प्रणपूर्वक स्नान करके धन्यताका अनुभव करती हूँ।

इस पाण्डुलिपिका संपादन अतिशय आनन्दमय रहा। भिक्षुजीके उपदेशमें सरलता और स्पष्टताके साथ गूढ़ और मार्मिक रहस्योंका स्फोट भी सत्यपर सीधी चोट करनेवाला है। अतः पाठकको किसी तर्क जालमें उलझना नहीं पड़ता। 'गागरमें सागर'की समासशैलीमें ज्ञानदानकी इस अद्भुत कलामें आत्मा-परमात्माकी अभिन्नता समझानेकी अलौकिक शक्ति है।

अनेक विनोदपूर्ण दृष्टान्तों द्वारा दृष्टान्तकी व्याख्या करके सिद्धान्तकी स्थापना की गयी है। अवस्थात्रयको 'वेदान्तकी भित्ति' माने सबसे बड़ा प्रमाण बताते हुए समझाते हैं-'अनुभवरूप चेतन 'मैं' सब अवस्थाओंमें अनुगत होनेसे और कुछ न पढ़कर इसे पढ़ो; यह अपनी किताब है। यही असली वाद है। इससे अन्तर्मुखता आयेगी। इसीमें दृष्टि-सृष्टिवादका मूल सिद्धान्त है, जो सबसे श्रेष्ठ है।'

पुनः इससे भी आसान तरीका वे अवस्थाद्वय-उन्मेष-निमेषका बताते हैं, जिसमें वाक्‌कौशलका महत्त्व नहीं है, विचारका महत्त्व है। तत्त्वनिष्ठापूर्वक अद्वैतबोधके लिए कुछ सूत्र भी वे समीकरणशैलीमें देते हैं-

आत्माका अनुभव करनेवाला कभी दीन नहीं हो सकता, क्योंकि उसे कोई आशा-लालसा नहीं है। सच्चा गुरु वही है जो शिष्यको दीनतासे मुक्त कर देता है। सत्संगका मुख्य अर्थ है, अखण्ड-वृत्तिमें स्थित हो जाना। इसके लिए बुद्धि और अहंकारसे परे आत्मान्वेषण किया जाय। परमात्मासे एकता ही एकान्तवास है। जीवनभर मुमुक्षु होकर रहना आदर्श नहीं है, तत्त्वनिष्ठ हो जाना चाहिए। माया-उपाधिसे मुक्त जीव ब्रह्म है। मुमुक्षुका महोत्सव माने जीवभाव और शिवभाव दोनोंका परित्याग, निर्विकार हो जाना।

वास्तविक भक्ति अभेदानुसन्धान है। एकता हो तो भक्त, एकता न हो तो अभक्त। एकाग्रतासे मनकी शुद्धि होती है। भेद-व्यवहार देहाभिमानसे होता है। हृदयग्रन्थिमें अहं कारण है। इस परिच्छिन्न अहंमें आभास-अंश मिला हुआ है। मात्र चिदंश हो तो अहं ब्रह्म है। स्वरूपस्थित होनेके लिए सांसारिकतासे निवृत्त होना आवश्यक है, फिर भी जिसे संसारमें रहकर भजन करना है, उसे मुनीमकी तरह रहना चाहिए। अन्यथा अर्थबुद्धि दुःख देती है। अपने शरीरसे तो वैराग्य करना ही पड़ता है। तब देहात्मभावसे मुक्त

होनेपर स्वरूपानन्दका अनुभव होता है। अन्यथा सकामतापूर्वक भजन दुकानदारी है। संसारमें फँसे लोग गुरुके उपदेशको धारण न करके मनमानी करते हैं। इसीलिए सगुण-निर्गुणमें एकताका ज्ञान न होनेसे द्वैतभूतकी मानस कल्पनासे दुःखी होते हैं। उनके मनमें दुराग्रहका गोबर ऐसा भरा हुआ है कि वे नग्न सत्यका विचार ही नहीं कर पाते। शरीर धर्मको सह नहीं पाते, क्योंकि उसे वे प्रारब्धरूपमें स्वीकार नहीं कर पाते।

दृढ़ ज्ञानके लिए विचारका महत्त्व है, ध्यानका नहीं। तब ज्ञानदृष्टिसे वह 'मैं' और 'तू' आत्मा और परमात्माका अभेद अनुभव कर सकता है। तत्त्वविचार स्वयंमें इतना मादक है कि जो इसका आनन्द लूटता है, वह वर्णन नहीं कर सकता। विचारसे निर्णय और अन्तमें निष्ठा होनेपर ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है। यह खुदमस्ती ही सर्वोत्तम है।

तत्त्वविचारके लिए कुछ करना नहीं पड़ता। विधि-निषेध तो मेहमानकी तरह जीवनमें आते-जाते रहते हैं। सत्य वस्तु ग्रहण करनेमें बातका महत्त्व है, वक्ताका नहीं। दृढ़ता हो तो सन्देह न होगा। अपनी खोज करना मूढ़ता है, अपना अनुभव मुख्य है। जो तत्त्वानुभव करनेके लिए तत्पर है, वही सच्चा अधिकारी है। अन्यथा अधिकारीभेद नहीं है, क्योंकि भिक्षुजीकी दृष्टिमें परम सत्यके निर्वचनमें कहीं अधिकारी भेद नहीं है। परम सत्य तो अनिर्वचनीय है। परम सत्यके अनुभवमें जो भी सहायक है, वही साधन है। सत्यप्राप्ति होनेपर तो बस, ॐ! गूँगेका गुड़! अनुभवी मात्र देखनेवाला है, अतः मौन है। जिसे अनुभव नहीं हैं, वह बोलनेवाला अन्धा है।

ज्ञानी दिवानिद्राके कारण स्वस्वरूपसे च्युत नहीं हो जाता। तत्त्वविस्मरण ही दिवानिद्रा है। वेदान्तका रहस्य नाटकका स्वरूप

है। इसमें आत्मविस्मरण न होना चाहिए। मिथ्या अभिनय माने नाटक; यही वेदान्त! फिर भी किसी कारणसे ज्ञानीमें क्षोभ आ जाय तो वह आत्मस्थित होकर स्वस्थ हो जाता है। उसका प्रेम-प्रीति और लोक व्यवहार नाटक है। वह गुणातीत, निर्द्वन्द्व, सहजावस्थामें 'सर्वभूतहितमें रत' है। इसलिए जो कुछ भी हो जाय, मायामें सब ठीक है। बेठीक मानता है तो उसे कुछ चाह है।

ब्रह्मज्ञानीकी इस पराकाष्ठापर सबकी पहुँच नहीं है। परन्तु सच्चे जिज्ञासुको भिक्षुजीका उपदेश वहाँतक पहुँचानेमें समर्थ है। श्रद्धा, प्रणाम और सेवामें भी वे हृदयकी एकतापर बल देते हैं, क्योंकि यही अद्वैतबोधकी नींव है। जिज्ञासु और ज्ञानी दोनोंके लिए उन्होंने अनेक कथा-कहानियाँ, दृष्टान्तों और श्लोक तथा कविता द्वारा विनोदपूर्ण शैलीमें गूढार्थका निरूपण किया है। परन्तु यह सब उनकी अपनी मौज है। वे उपदेश देकर किसीपर उपकार नहीं करते, मात्र अपनी निष्ठाकी पुष्टि करते हैं। इस प्रकार वे अपनी अखण्डतामें भी पूर्ण विनम्र हैं। सद्गुरुका वात्सल्य सर्वत्र छलकता है।

इस सम्पादन-सेवामें मुझे भी साधन-भजनका बल मिलता है। अतः मैं महाराजश्री और भिक्षुजीके प्रति कृतज्ञ हूँ। भगवद्कृपासे ही सेवाका सौभाग्य प्राप्त होता है।

-श्रीनारायणी

(स्वामीश्री धीरेशानन्दपुरीजीके संकलन से-)

परमार्थ संन्यास

असल संन्यास है तत्त्वज्ञान! 'ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।' वहाँ किसी प्रकारका अभिमान नहीं। 'मैं ब्रह्मचारी', 'मैं गृहस्थ', 'मैं वानप्रस्थी', 'मैं संन्यासी'-यह सब आत्माके सर्वात्मभावका परिच्छेद है। आत्मामें ये सब कुछ भी नहीं, फिर सब कुछ ही हैं। उसमें ही इन सबकी कल्पना है।

वह क्या है? कोई भी शब्द द्वारा नहीं बता सकता। कुछ बतानेको गया कि वहीं दो आगया। भेद आगया। इसलिए स्वरूपमें स्थित रहता हुआ, सर्व नाम-रूपोंके आवरणमें रहकर भी जो अपनेको सबकुछसे पृथक् जानता हो, किसी अवस्थामें जिसका किसी प्रकारका अभिनिवेश नहीं रहता, वही पारमार्थिक संन्यासी है। यह संन्यास आश्रमरूप नहीं है।

मूल अविद्या मारिके जो जाने जगदीश।
चाहे मूड मुडाय के, चाहे चक्की पीस।।

मूल अविद्याका अपरोक्ष ज्ञान द्वारा नाश करके जिन्होंने परमात्माको जान लिया है, चाहे तो वे सिर मुड़ाकर संन्यासवेश ले लें या चक्की पीसकर दिन बितायें। उनके लिए सब ही एक-सा है।

●

साधुवेशधारी तथा साधु

(अपनी रचना)

अब साधु बाधु भये, रहे ठौर के ठौर।
स्वयं समझत कछु और ही, समझावत कछु और।।

जिसे 'साधु-साधु' कह रहे हैं। वह तो केवल भेषधारी भर है। वे अपनी स्थितिपर ही हैं, अर्थात् अपना मतलब हासिल करनेमें ही व्यस्त हैं। वे स्वयं कुछ जानते हैं अर्थात् अपने मतलबमें लगे रहते हैं, परन्तु दूसरेको समझाते समय बड़ी-बड़ी बातें करते हैं।

अब असल साधुको देखो-

साधू भी बाधू भये, रहे ठौर के ठौर।
स्वयं समझत कछु और ही, समझावत कछु और।।

अर्थात् साधुभेषमें रहनेपर बाधू यानि उस भेष या उस आश्रमाभिमानसे रहित हैं। वे सदा ठौर अर्थात् अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं। वे जानते हैं कि तत्त्ववस्तु वाणी व मनके परे है, उसे वाणीके द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। फिर भी लोगोंको समझानेके लिए शब्दका प्रयोग करते हैं, समझानेका प्रयास करते हैं।

●

तोता और उसकी बन्धन-मुक्ति

परिवारके साथ एक व्याध भूखसे पीड़ित है। जंगलमें जाकर शिकार करनेपर केवल एक तोता ही मिला; शिकारीने सोचा, इसे ही आज हम सब मिलकर खायेंगे। तोतेने कहा-'हमें मारकर कितना मांस मिलेगा? उससे तो किसीका भी पेट नहीं भरेगा। इसलिए मुझे बाजारमें बेंच दो और उससे जो पैसे मिलेंगे, उससे तुम कुछ रोज गुजार सकोगे।'

शिकारी तोतेको बाजार ले गया। तोतेकी मधुर बोली सुनकर एक ब्राह्मणने उसे खरीद लिया। तोतेने सोचा, खैर है कि व्याधके पंजेसे तो छूट सका। ब्राह्मणके घरमें तोताकी सुमधुर वाणी सुनकर गाँवके लोग मुग्ध हो गये। वे लोग कहने लगे-'ऐसे सुन्दर तोतेको तो मन्दिरमें दे देना चाहिए।'

ब्राह्मणने उसे मन्दिरमें दे दिया। मन्दिरमें तोतेकी बोली सुनकर सब प्रसन्न हो जाते थे। हमेशा भीड़ लगी रहती। तोता सोच रहा था, किस तरह छुटकारा मिले। उसने सुना, 'शहरके नदी-प्रांतमें एक बड़े महात्मा आये हैं। सब लोग उनका सत्संग करने जाते हैं।'

तोतेने एक व्यक्तिको बन्धन-मुक्तिका उपाय पूछनेके लिए कहा। उस आदमीने महात्माजीको तोतेका प्रश्न पूछा। पूछते ही महात्माजी

बेहोश होकर गिर पड़े। यह देख सब लोग घबड़ाये। महात्माजीके सिरमें पानीके छींटे डाले और दवाकी। महात्माजी होशमें आगये। उस व्यक्तिने जाकर तोतेको यह घटना सुनायी। तोता बातका रहस्य समझ गया।

दूसरे दिन भोरमें लोगोंने देखा कि तोता पिंजरेमें मुर्दा-सा पड़ा है। उन्होंने उसे मरा हुआ मान लिया और पिंजरेसे निकालकर बाहर रख दिया। उसी समय तोता उड़कर पेड़पर जा बैठा। वह बोला-'बन्धन-मोचनका यही उपदेश मुझे महात्माजीसे मिला है।'

एकदम निकम्मे होकर अचल पड़े रहनेसे ही तो तोतेको मुक्ति मिली। इसी प्रकार साधु जगत्के सारे व्यवहारोंसे जब मुख फेर लेता है, तब वह मोक्ष-मार्गमें आगे बढ़ सकता है।

तीन अवस्थाओंके ऊपर ही वेदान्तकी नींव है। अवस्थात्रयके विचार द्वारा जब स्वरूपानन्दकी अनुभूति हो जाती है तो फिर बाकी ही क्या रह जाता है? लोग ब्रह्मानन्दको ढूँढते फिरते हैं।

स्वरूपानन्द ही सब कुछ है, सब कुछ स्वरूपानन्द!
अब तू क्यों ढूँढता फिरे, भ्रमसे ब्रह्मानन्द?

●

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते

वस्तुतः अवस्थात्रय ही है वेदान्तकी भित्ति। यह प्रत्यक्ष है। किसी मत या वादके ऊपर निर्भर नहीं करना पड़ता। अवस्थात्रय व्यभिचारी होनेपर भी नित्य 'मैं' सदा अनुगतरूपमें विद्यमान है।

जब भी 'मैं'ने स्वप्न देखना प्रारम्भ किया या जाग उठा, उसी समय विचित्र जगत् भी भासित हो उठा। जगत् कहाँसे आया और सुषुप्तिमें कहाँसे आया? अहंसे उत्पत्ति और सुषुप्तिमें अहंमें ही लीन हो गया। अतः 'मैं' ही उस जगत्का स्रष्टा, पालयिता एवं निधनकर्त्ता है। 'मैं' अनुभवस्वरूप चेतन! वह 'मैं' ही स्वप्नमें अनेक रूप बना लेता है।

जाग्रतमें 'मैं' ही अनेक रूपोंमें प्रकाशित होता है। मेरे स्वरूपकी इति नहीं। सुषुप्तिमें मैं हूँ। उस 'मैं'का परिचय वाणीके द्वारा बोला नहीं जाता। कहा भी है-

मस्त हूँ जिस मयसे मैं,
उस मयका पयमाना नहीं।।

मय=मद, शराब। मय=मैं। पयमाना=परिमाण।

अर्थात् जिस शराबको पीकर मैं मस्त हो गया हूँ, उस शराब (मद्=मय=मैं) का परिमाण बताना असम्भव है।

असली वाद यह है कि मनको बाहरी वस्तुसे मोड़कर अन्तर्मुख करना यानी स्वरूपकी ओर निगाह रखना। बुल्लाशाको किसीने पूछा था कि 'ईश्वरको किस तरह पाया जाता है?'

उन्होंने जवाब दिया-'पानेका उपाय तो सरल है। मनको इस ओरसे (विषयसे) उस ओर (स्वरूपकी ओर) फेर देना भर है।

बुल्ला रवदी को पाओना, ईत्ये पटके उत्ये लाओना!

सब ही स्वप्नदृश्यकी तरह भानमात्र है। इस दृष्टि-सृष्टिके अनुसार अज्ञान भी प्रतीति भर है। 'मैं अज्ञ (कुछ नहीं जानता)'! इस बोधके समय ही अज्ञान है, दूसरे समय नहीं है। किसी-किसीका कहना है- 'सुषुप्तिमें सुख-स्वरूप आत्मा अज्ञात है। सुख कभी अज्ञात होता है? सुख तो सदा ही अनुभव-स्वरूप है। अतः सुषुप्तिमें भी एक सुख-स्वरूप 'मैं'के सिवाय अज्ञान नहीं है। यह सब दृष्टि सृष्टिवादकी बात है।

मैं दृष्टि-सृष्टि-वादके सिवाय और बातें नहीं करता। यही मूल सिद्धान्त है। अन्य जो कुछ प्रक्रिया है, घूम-फिरकर इस सिद्धान्तमें ही आना होगा कि 'मैं के सिवाय और कुछ नहीं।' इसलिए शुरूसे ही मैं इसे कहता हूँ।

तुम कहते हो कि 'मैं केवल एक ही बात कहता हूँ ! इस उच्च सिद्धान्तको कौन समझ सकता है? कोई ले या न ले (समझे या न

समझे), मुझे क्या परवाह है? मुझे दुकानदारी करनी नहीं; मेरी दुकानमें तरह-तरहका सामान सँजोके क्यों रखना होगा? जो 'लोगोंकी भलाई करनेका'। बहाना करके अपनी स्वार्थ-सिद्धिमें लगे हैं, वे ही अनेक बातें करते हैं-'कर्म करो, चित्तशुद्धि करो, दान-ध्यान-उपासना आदि अनेक बातें कहते हैं।'

मैं केवल घीका व्यापारी हूँ। मेरी दुकानमें केवल घी है। जिसकी मर्जी हो, लो! अपनी मस्तीमें बातें किये जाता हूँ। जो सुनकर लाभ उठाना चाहे, वह सुने! एक जनसे कहते समय दूसरा सुनकर शायद समझ जाय!

गुरु द्रोणाचार्य दुर्योधनादिको शिक्षा दे रहे हैं। उससे अर्जुनने सुनकर सब सीख लिया। अधिकारी लोग सब समझ लेते हैं! इसी प्रकार कोई-न-कोई मेरी बात समझ ही लेंगे।

दीनता क्या है? 'हे ईश्वर मेरी रक्षा करो!' 'मुझे बचाओ!' इस तरहकी दीनता त्यागना होगा! मैं ही तो कहींसे एक मूर्ति ले आकर, सिन्दूर लगाकर, उसके सामने हाथ जोड़ते हुए रो रहा हूँ और कह रहा हूँ-'रक्षा करो, रक्षा करो!' मूर्ति कहती है-'अरे! तुमने ही तो मुझे ईश्वर बनाया! फिर दीनता किस बात की?'

●

गुरु और शिष्य

'अटल अखाड़ा'में एक रोज एक साधु आये। उनके साथ और भी थे। साधु पासमें आकर बैठे, परन्तु और लोग दूर जाकर बैठे। मैंने उन लोगोंको पासमें आकर बैठनेको कहा, फिर भी वे नहीं बैठे। महात्माजीने कहा-'ये लोग मेरे शिष्य हैं, इसलिए हमारे बराबर नहीं बैठेंगे।'

मैंने कहा-'जो गुरु शिष्यको शिष्य बनाकर ही रख देते हैं, वे सत्-

गुरु कहने लायक नहीं है।' क्योंकि वे प्रारम्भसे तो शिष्य हैं। जो गुरु शिष्यको ब्रह्मस्वरूप यानी गुरु बना दे सकते हैं, वही है सच्चा गुरु। बेचारा जिन्दगी भर शिष्य ही बना रहेगा। यह कैसी बात है?

एक गुरुके कई शिष्य हैं। उनमें-से दो वस्तुतत्त्वको समझ गये और अपने मनमें मस्त हैं। गुरुजीके पास और अधिक नहीं आते। अन्य शिष्य गुरुजीकी सेवा करते हैं और कहते हैं-'गुरुजी कृपा कीजिये! कृपा कीजिये!!'

लोग कहते हैं-'ये सब लोग ही वास्तवमें श्रद्धालु हैं'।

गुरु कहते हैं-'नहीं, वे जो दो हैं, वे ही शिष्य कहने लायक हैं। उन्होंने वस्तु पहचान ली है। उनमें और दीनता नहीं रही।'

तत्त्वविदोंके लिए यह प्रपञ्च एक बड़ा तमाशा है। अर्थहीन प्रतीति! कैसा मजा! है न तमाशा? अर्थबुद्धि यानी सत्यत्वबुद्धि रहनेसे ही तो दुःख है। अर्थबुद्धि नहीं है, इसलिए यह प्रातीतिक व्यवहार कितना मजेदार है। विद्वान् ही यह मजा लूटते हैं, जिस प्रकार सिनेमाका दृश्य देखकर लोग आनन्द मनाते हैं।

●

नाश नहीं, प्राप्य भी नहीं

खोया कहे सो बावला, पाया कहे सो कूर।
खोया-पाया कछु नहीं, ज्यों-का-त्यों भरपूर।।

जो कहते हैं-'ब्रह्म मेरा विस्मृत हो गया है, खो गया है,' वह पागल है। जो कहते हैं-'मुझे ब्रह्म मिल गया है,' वह भी झूठ है। स्वरूप स्थित ब्रह्म खो भी नहीं गया, अथवा नवीन रूपमें मिल भी नहीं जाता! जैसा वह था, वैसा ही है, सदा परिपूर्ण, भरपूर!

●

बुद्धिके प्रति अहंकारका कथन

एक कुल्टा स्त्री उपपतिके साथ खुशी मना रही है। बगलके कमरेमें उसका पति सोया हुआ है। खूब मजा लूटते हुए स्त्रीने कहा-'हम इतना आनन्द मना रहे हैं तो इसका भागी मेरा पति भी क्यों न बने? उन्हें जगाके बुला लें?' जवाबमें उसके उपपतिने कहा-'खबरदार! उसे जगानेपर वे तुम्हें और मुझे जिन्दा नहीं छोड़ेंगे, मार डालेंगे! इसलिए मत जगाओ!'

यह रहा दृष्टान्त! इसी प्रकार बुद्धिका पति है परमानन्द-स्वरूप आत्मा! वह अज्ञानरूपी निद्रामें निद्रित है। इस तरफ बुद्धिरूपिणी स्त्री अपने अहंकाररूप उपपतिके साथ खूब मौज उड़ा रही है। तब बुद्धि कहती है-'इस आनन्दका रत्तीभर भी अपने पतिको नहीं दूँगी क्या? क्या उन्हें जगायें?'

तब उपपति 'अहंकार' कहता है-

अहंकारो धियं ब्रूते-मा सुषुप्तं प्रबोधय।
उत्थिते परमानन्दे न त्वं नाहं नेदं जगत्॥

उपपति अहंकार बुद्धिको कहता है-'तुम्हारे पति परमानन्द-स्वरूप आत्माको नहीं जगाओ! वे सोये हैं तो सोने दो! उनके जागनेपर तुम, मैं, यह जगत्=किसीका भी बचाव नहीं होगा! मूल अविद्याके साथ सर्व जगत् ध्वंस हो जायगा।'

●

सत्संग तथा एकान्तवास

'सत्संग'का अर्थ है, सन्तोंका संग। सत् तो केवल वही, परमात्मा ही है। उसका संग माने उन (सन्तों)के साथ एक हो जाना। अर्थात् अखण्ड वृत्तिमें स्थित हो जाना, एकाकार हो जाना। क्षणभर भी इस वृत्तिमें स्थित हो जानेका अर्थ है, सारी अविद्या तथा संसार-बन्धनका सर्वथा नाश हो जाना। इसलिए आचार्य कहते हैं-

क्षणभर सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।

यही है 'सत्संग' शब्दका मुख्य अर्थ और गौण अर्थ है-'सत्स्वरूप परमात्माकी चर्चा जो (सन्त) करते हैं, उन्हींका सङ्ग।

उसी प्रकार 'एकान्तवास'का मुख्य अर्थ है-'अन्तमें एक' जो कि अवशिष्ट रह जाता है। अर्थात् 'परमात्माके साथ निवास' यानी एकरूपमें स्थित हो जाना। 'ब्रह्माकारवृत्ति'में स्थित हो जानेका नाम ही है 'एकान्तवास'। इसका गौण अर्थ है, 'निर्जनमें वास।'

मैं सब कुछ ही उस एक दृष्टिमें देखता हूँ। मेरे पास तो एक ही मसाला है और मैं उस मसालेके द्वारा ही सब कुछका आस्वादन करता हूँ।

मैं 'घी'का व्यापारी हूँ। केवल घी ही रखता हूँ अपनी दुकानमें। अन्य बनियोंकी तरह अनेक चीजोंसे दुकान सजाकर नहीं रखता। क्या जरूरत है? एक घी ही आयुवर्धक तथा पुष्टिकारक है। एकके मिलनेसे ही काम बन गया। सारा कूड़ा इकट्ठा करनेका क्या काम?

●

जगद्गुरु तथा दास

बड़े-बड़े महात्माओंके नामके पूर्व लोग 'जगद्गुरु' शब्दका प्रयोग करते हैं। 'जगद्गुरु'का माने क्या है? सुनो-

तबतक योगी जगद्गुरु, जब लग रहे निरास।
जब आशा मनमें लगी, तब जगद्-गुरु योगी दास।।

अर्थात् किसीसे कुछ भी आशा नहीं रखते हैं। परन्तु जब वे किसीसे कुछ आशा करते हैं, तब जगत् ही उनका गुरु हो जाता है और वे हो जाते हैं सबोंके दास।

कामनाताडित होकर योगी जब भक्तोंका दिल बहलानेमें लगे रहते हैं और तब उनमें वह स्वतन्त्रता नहीं रह जाती। लोगोंको खुश करनेके

लिए उन्हें अनेक उपाय निकालने पड़ते हैं। 'सुतराम' अब उन लोगोंके गुलाम (ताबेदार) हो जाते हैं। अतः-

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुस्वाप पिंगला।।

●

अपनी किताब पढ़ो

'दृष्टि-सृष्टि'। सब कुछ ही अपनी फुरणा-कल्पना है। आप ही कल्पना करके आप ही फिर उसके प्रति दीनता प्रकट कर रहे हैं। क्या ही मूर्खता है! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सर्व अवस्थाओंमें अनुस्यूत जो चेतना-तत्त्व है, उसमें कुछ भी विकार नहीं, कुछ भी विकल्प नहीं। सदा एक ही रूप! चिदाभासके समुदाय व्यवहारकालमें भी उस कूटस्थ चेतनका कभी विलोप नहीं होता। उसीको जानो! पकड़ो!!

तुम अनेक किताब पढ़ते हो न! आज तुम्हें एक पुस्तक पढ़नेको कहेंगे। तब फिर और दूसरी पुस्तकें पढ़नेकी आवश्यकता नहीं होगी। इस पुस्तकमें चार अध्याय हैं-(1) जाग्रत्, (2) स्वप्न, (3) सुषुप्ति और (4) तुरीय।

यह ग्रन्थ सारे वेदान्तकी नींव है। 'तुरीय' कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। वह तीनों पूर्वावस्थामें अनुस्यूत है। ये अवस्थाएँ आपसमें व्यभिचारी होनेपर भी चेतन सबमें एक रूपसे अनुगत है। इस चेतनको ही पकड़ो (पहचानो) अनेक विद्या, विचार व तर्कमें क्या लाभ है? इस एक चेतनमें ही अविद्याके प्रभावसे तुम्हारे कल्पित स्वप्न-इस जगत्का भान हो रहा है। यह सब स्वप्न-दृश्यके सिवाय और है ही क्या? अज्ञान अवस्थामें इस मायाका ही सत्यरूपमें भान होता है।

वेदान्तविचारकी दृष्टिमें यह सब अनिर्वचनीय-मिथ्या है और

ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सब अलीक हैं, (माने) किसी भी कालमें नहीं था। एक तुम्हीं हो, एक चेतन, एक रस।

जितने सब आचार्य हैं, वे सबोंको एक-एक तरहसे समझा रहे हैं और संसारको और (अधिक) कोलाहलमय कर डालते हैं। मतवाद और झगड़ोंको छोड़ो और अपनी किताब पढ़ो!

चार अध्यायकी किताब! जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति और तुरीय-इन चार अध्यायोंकी किताब! इनमें असली वस्तु क्या है, इसकी खोज करो। इसमें कुछ भी झगड़ा नहीं। कौन क्या कहता है-इसे लेकर माथा गरम करनेसे लाभ क्या? अपनेको देखो! सारी समस्याओंका समाधान हो जायगा। लोग कहते हैं-'परोपकार करो'। 'सर्वभूतहिते रताः'। सर्वभूतोंका हित क्या है? वे लोग जानते ही नहीं। सर्वभूतहित है एक आत्मा। जो केवल आत्मरत है वही वास्तवमें सर्वभूतहितरत है। अपर लोग सर्वभूतोंके हितमें करनेकी बात कहते हैं, किन्तु दुकान सजाकर बैठते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। वे मुँहसे तो लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं। सब कोई अपने-अपने कल्याणके लिए प्रयत्न करें तो उसके द्वारा ही अपने-आप जगत्का कल्याण हो जाता है। व्यष्टि-व्यष्टिको लेकर ही तो समष्टि होती है। समष्टिके नामपर व्यष्टिकी कुर्बानी क्यों दे रहे हो?

●

मन ही लोगोंका गुरु है

मन ही गुरु है। मन,जो कुछ कहता है, लोग वही करते हैं। गुरुका कहना भी नहीं मानते। गुरु जो कुछ कहते हैं, उसे शिष्य सुन तो लेते हैं, पर करते वही हैं जो उनका मन कहता है।

गुरुकी बातें सुनकर लोग कहते हैं-'हाँ महाराज, आपने ठीक ही कहा है! हाँ, मैं समझता हूँ!!' परन्तु वे करते हैं क्या? कभी नहीं। अपनी मनमानी ही करते हैं। इसलिए हिन्दीमें कहते हैं-

जानत मन मानत नहीं, लानत लाख हजार।
मनमानी माना चहे, छानत छार गँवार।।

क्या उचित है (ऐसा विवेक), गुरुकी बातसे जान तो लेते हैं, परन्तु उनका मन नहीं मानता। उस (व्यक्ति)को लाख-हजार धिक्कार है (लानत है), क्योंकि जब वह जान ही गया कि 'क्या ठीक है', तब करता क्यों नहीं? लोग अपनी मनमानी चीज ही मानना चाहते हैं। गँवार लोग तो छार यानी राख ही छानते फिरते हैं। कपड़ेसे कुछ छानकर लोग सार वस्तु निकालते हैं, परन्तु राख छाननेसे क्या निकलेगा? फिजूल मेहनत! उसी प्रकार लोग शुभ-मार्गपर तो चलते नहीं! चलते हैं अपने खयालसे और कहते हैं-'शान्ति नहीं मिलती।' राख छाननेकी तरह उसकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। बिना अपनी अभिज्ञतासे सीखे, लोग गुरुकी बात नहीं मानते।

जब न दिखे अपना नयनीं।
तब न प्रतीति होई गुरु-बैनीं।।

जबतक अपनी आँखोंसे नहीं दीखता, तबतक लोगोंको गुरुकी बातपर विश्वास नहीं होता। इसलिए देखो, असलमें मन ही सबका गुरु है।

●

जुआरीका ताश देखना

जुआरी शर्त रखकर ताश खेलता है। ताशका नम्बर मुट्ठीमें छिपाकर कपड़ेकी आड़से देखता है। उसे डर है कि कोई देखकर प्रतिपक्षीका इशारेसे बता देगा। दूसरा पक्ष जब शर्त और भी बढ़ा देता है, तब अपने ताशके नम्बरके बारेमें उसे शंका हो जाती है। तब वह छिपाकर फिर वही नम्बर देख लेता है। शर्त और भी बढ़ जानेपर फिरसे एक बार वह अपने हाथमें रखे ताशका नम्बर देख लेता है और अपनी जीतके बारेमें शंकारहित हो जाता है। यह है दृष्टान्त।

उसी प्रकार अपरोक्ष-ज्ञान होनेपर भी व्यावहारिक राग-द्वेषके कारण सन्देह हो जाता है। इसलिए ज्ञानी ज्ञानको दृढ़ करनेके लिए बार-

बार ज्ञानाभ्यास करते हैं। पहला ज्ञान है, सम्यक् ज्ञान। प्रमाज्ञान होनेपर भी संशयदुष्ट होनेके कारण उसे अदृढ़ ज्ञान यानी अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान भी कहा जा सकता है। इसलिए उसे पुनः ज्ञानकी आवृत्ति करनी पड़ती है। यही ज्ञानाभ्यास है।

यदि दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान मननके द्वारा हो जाय तो उसे और ज्ञानाभ्यासका प्रयोजन नहीं रह जाता। यह अभ्यास व वृत्तिकी आवृत्ति ध्यानरूप नहीं है। यह निश्चयात्मक ज्ञानरूप होनेके कारण है।

वार्त्तिककारके मतानुसार निदिध्यासनका अर्थ सम्यक् ज्ञान है। ध्यान वृत्तिके आवृत्तिरूप होनेपर भी उसमें वस्तु-विषयक निश्चित ज्ञान नहीं है। गुरु व शास्त्रमें श्रद्धा रखकर किसी एक भाव (या वृत्ति) की बार-बार आवृत्ति-मात्र है।

वार्त्तिककारके अनुसार मननके अन्तमें जो निश्चित ज्ञानका उदय होता है, उसीकी आवृत्तिका नाम है, 'ज्ञानाभ्यास'। यह ज्ञान परोक्ष होनेपर भी प्रमा है।

●

दो धोखेबाज

दो धोखेबाज गप्प लड़ा रहे हैं। पहले धोखेबाजने कहा-'मेरे पिताजीका एक मकान था जो इतना ऊँचा था कि आसमान छू जाता। ऊपरकी ओर देखते, तो उसकी चूडा नजर न आती।'

दूसरेने कहा-'मेरे पिताजीके पास शेरका शिकार करनेके लिए एक भाला था। वह इतना लम्बा था कि आकाश पार करके एकदम स्वर्गकी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता।'

पहला बोला-'तेरा सब फिजूल गप्प है। इतना बड़ा भाला रखता कहाँ?'

दूसरा बोला-'क्यों? तेरे पिताजीके उसी मकानके अन्दर!! तू भी क्या कम गप्प हाँक रहा है?' ●

तुम और मैं

तू-तू कह कर थक गया, तू न दीख पड़ा।
'मैं' का जामा पहनकर, तू ही ढीठ खड़ा।।
तो फिर 'मैं' कैसे कहूँ? 'तू' भी कहा न जाय।
'तू-मैं' भाव विहायके, रूप अनूप सुहाय।।
अब 'मैं-तू' दोनों गये, रहा न अन्तर भेद।
यामें अन्तर बाह्य नहीं, नहीं स्वरूपका भेद।।
यही तत्त्व वेदान्तका, जो वेदनका भी वेद।
यामे नामरूप आरोप है, नहीं जगत जन खेद।।

'तुम-तुम' कहकर मैं थक गया हूँ। तुम तो दीख नहीं पड़ते। मेरा कुर्त्ता पहनकर तुम ही तो खड़े हो! यानी, मुझसे भिन्न तुम्हारी निशानी नहीं। जब एक ही निशानी है, तो 'मैं'-यह भी कैसे कहूँ! 'तुम'-यह भी तो नहीं कहा जाता। अतः 'तुम-मैं'-यह सब कहना छोड़कर अपना अनुपम स्वरूप ही लक्षणीय है। वहाँ 'तुम-मैं'का कुछ भी भेद नहीं है। एक ही वस्तुमें 'तुम-मैं'-इन सबोंकी कल्पना हो रही है।

●

भिक्षुका आलाप

तुमने उस दिन कहा था कि 'मैं केवल घीका ही व्यापार करता हूँ! और चीज नहीं देता!' अर्थात् 'अधिकारीके अनुसार उपदेश नहीं करता। केवल दृष्टि-सृष्टिकी बात ही करता हूँ!' तो सुनो! मेरी दृष्टिमें भिन्न अधिकारी है ही नहीं। सब-का-सब स्वप्न-मात्र है! इसमें कौन उत्तम अधिकारी और कौन मध्यम?

लोग भ्रान्तिमें पड़े हैं। मैं उन्हें सत्य बात क्यों न कहूँ? 'यह करो, वह करो'-कहकर मैं उन्हें और ही भ्रान्तिमें क्यों डालता जाऊँ? वास्तवमें

जगत् है ही नहीं! 'सब ही नित्य-मुक्त आत्मा है'-इस सत्यको क्यों न कहूँ, जिसमें स्वयं विश्वास करता हूँ?

मैं जो कुछ भी कहता हूँ, यह सब अपना ही आलापन है। अपने आलापनाको भंग क्यों करूँ? मैं बोलता हूँ, इससे अपनी निष्ठाकी पुष्टि होती है। किसीका उपकार करनेके लिए मैं उपदेश नहीं करता। उपदेश करनेवाला, उपदेश ग्रहण करनेवाला या शिष्य-इन सबमें मैं भेददृष्टि नहीं रखता।

जो (व्यक्ति) यह सोचता है कि 'मैं परोपकारके लिए ऐसा करूँगा,' 'ऐसा बनूँगा'-वह तो वेदान्तका कुछ भी नहीं समझा। मैं तो जो कुछ कहता हूँ, अपना ही आलापन है। जीवन वही सफल है जब दिवस आनन्दमें बीत जाय।

मेरे विचारमें तो सब कोई अधिकारी है। सत्य-वचन सुनाते चलो! यह जुलाबकी तरह काम करता है। बेकार नहीं जायगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों जुलाब लगेगा ही। गधेके कानमें भी महावाक्य सुनाओ तो वह व्यर्थ नहीं जायगा! कभी-न-कभी फल होगा ही। आज जो अनधिकारी है, वह सत्य-वचन सुनता रहे, वेदान्तकी बातका श्रवण हो, तो कभी-न-कभी लाभ होकर ही रहेगा। यह गोली व्यर्थ जानेवाली नहीं है।

इसलिए कर्म-उपासना आदिके बारेमें मैं कुछ नहीं कहता। जिसको यह पसन्द न हो, वह न आये! परन्तु फिर भी लोग आते हैं। कोई आये चाहे न आये! मैं इसकी परवाह नहीं करता। मेरे प्रारब्धमें जो भी भोजन-वस्त्र है, वह तो आयेगा ही!

जब मैं 'अटल-अखाड़ा'में रहता था, तब 'गधेके कानमें महावाक्य सुनाने'की बात सुनकर 'चेतनदेव कुटिया'के महन्त 'गुरु-मुखदास' अचरजमें पड़ गये थे। उस समय वे मेरे पास आया करते थे! रज्जुमें कोई साँप दिख रहा हो और उसे 'घण्टा बजाओ, ऐसा करो, वैसा

करों'-कहकर और भी भ्रान्तिमें क्यों डाला जाय? साफ क्यों न कह दें कि 'यह साँप नहीं, रज्जु है! तुम्हें भ्रान्ति हो रही है!'

शरीर और जगत्की भ्रान्तिके बारेमें भी ठीक वैसा ही है। फिजूल बातें न कहकर साफ कह देना अच्छा है।

मैं 'अटल अखाड़ा'में रहता था, तबतक रोज भक्तिका प्रसंग चला। मैंने भी भक्तिके बारेमें कुछ कहा। सुनकर लोगोंको बहुत आश्चर्य हुआ। तब मैंने कहा-'वास्तविक भक्ति क्या है? जानते हो? अभेदानुसंधान। वही सच्चा भक्त है जो परमात्माको अभिन्न रूपमें जानता है।'

किसी गृहस्थ-परिवारके लोगोंको अलग होते देखकर कहते हैं कि 'फलाँ परिवार विभक्त हो गया है? तब कहना होगा कि 'विभक्त होनेके पूर्व जब सब एक रसोईमें खाते थे, तब वे भक्त थे।' विभक्तके पूर्व भक्त!

अतः देखो, 'एक होकर रहनेका नाम ही 'भक्त' है। जो सब एक हो जाते हैं, वे ही वास्तवमें भक्त हैं। जो लोग भेद मानते हैं, वे भेदवादी विभक्त हैं।

●

विचार तथा भाँगका नशा

प्रश्न-इस संसारकी प्रतीति बड़ी दुःखदायक है?

उत्तर-संसारमें अर्थबुद्धि रहनेसे ही यह दुःखदायक है। यदि अर्थ-बुद्धि ही न हो तो दुःख किस बातका? यह सब मिथ्या प्रतीति भर है। एक तमाशा जैसा है। सिनेमाका दृश्य जैसा यह है। सिनेमाके पर्देपर गोलाबारी देखकर लोग डरते हैं क्या? अर्थबुद्धि यानी सत्यत्वबुद्धि न होनेके कारण ही लोग खूब मजा लेते हैं। 'वराह उपनिषद्'में एक श्लोक है-

ज्ञस्यानन्दमयं अज्ञस्य दुःखमयं जगत्।

अतएव सत्ताविहीन प्रतीति द्वारा व्यवहारका नाम है, खेल-तमाशा। पुनः सत्ता न हो और उस प्रतीतिके सारे व्यवहार! इसीका नाम है संसार।

इसे पुनः-पुनः स्मरण करना। विचार जितना ही किया जाए, वस्तुका स्फुरण उतना ही अधिक होगा। लोग भांग पीते हैं, जानते हो न? भांग पीसकर जितना ही बारीक किया जाय, उसे पीनेपर उतना ही अधिक नशा होगा। उसी प्रकार विचार जितना ही अधिक करोगे, तत्त्ववस्तुकी मादकता उतना ही अधिक अनुभव करोगे।

एक शरीर छोड़नेके बाद दूसरा शरीर ग्रहण करनेसे पूर्व आधिकारिक लोग कहाँ ठहरते हैं? जाग्रत्‌के शरीरसे स्वप्नका शरीर धारण करनेके पूर्व जीव कहाँ रहते हैं?

पुराणादिमें है कि वे लोग प्रलयकालमें ब्रह्मलोक और परलोकमें रहते हैं। नशा चढ़ जानेसे होश रहता है क्या? तब कोई अपमान कर दे, फिर भी भान नहीं रहता, वे अपनेमें मस्त रहते हैं!

चाहे ज्ञानविचारकी मस्ती हो, चाहे मानप्रतिष्ठाके लिए हो, चाहे भांगमदके नशेमें हो, सब ही बराबर है।

नशा नशा सब एक-सा, है ज्ञान मान और पान।
चाहे सिर पर जुती पड़े, मन रहे मस्तान।।

यदि तुच्छ अहंभाव दूर हो जाय तो और जगत् नहीं रहता। तब सब ही एकाकार। इसलिए कबीरजीने कहा–

कहत कबीरा, सुनो भाई गुणिया।
जब आप डूबे तब उड़ गयी दुनिया।।

और भी सुनो–

जो दीखे दृश्य, उसे मत देखो, देखो देखनहार।
आगमनिगम भी यही समझावत, सब सारनका सार।।
देखनहार दीखे नहीं, चाहे कर लो जतन हजार।
आप अपनेको ढूँढै, वाको मानो मूढ़ गँवार।।

●

खुदमस्ती

वेदान्तने कहा है कि श्रवणके बाद सुने हुए विषयके अनुकूल युक्तिके सहारे मनन करो! मैं कहता हूँ कि मनन और भी व्यापक भावमें कर सकते हो। विभिन्न दर्शनशास्त्र पढ़ो न! कोई आपत्ति नहीं। पढ़कर क्या त्याज्य और क्या ग्राह्य, उसका निर्णय कर लो। क्योंकि अनेक लोगोंने अनेक बातें कही हैं। इससे तुम्हारा क्या है? सभी बातोंको तो 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' कहकर मान लेना सम्भव नहीं। तुम अपने अनुभवके साथ मिलाओ, अपनी चार अध्यायकी पुस्तकके साथ मिलाओ (चार अध्याय-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय) नहीं तो दूसरोंकी बातोंसे क्या लाभ?

कथा-वाणी तो है मोमकी नाक। मन चाहे जिधर भी हो, वह नाक घुमायी-फिरायी जा सकती है। शब्दका अर्थ भी भिन्न-भिन्न पण्डित भिन्न-भिन्न व्याख्या करके सुना सकते हैं। इससे तुम्हारा क्या हुआ?

संसारमें कोई मान-पदवी लेकर मस्त है, तो कोई माल-विषय लेकर मस्त है और कोई-कोई तोता-मैना पालकर उसमें ही मस्त हैं। परन्तु अपनेमें मस्त न होकर सब अविद्याके कुएँमें डुबकी (गोता) लगा रहे हैं।

कोई हाल मस्त कोई माल-मस्त
कोई सुग्गा मैना तोतेमें।
एक खुदमस्ती बिनु, सब पड़े अविद्या-कुएँमें।।

●

ऐन और गैन

उर्दू भाषामें दो शब्द हैं, जिनके नाम हैं 'ऐन' और 'गैन'। देखनेमें दोनों शब्द एक जैसे हैं, अन्तर यह है कि 'गैन'के सिरपर एक बिन्दी है, जिसे वे लोग कहते हैं 'नुक्ता'। 'ऐन' है-'ع' और गैन है 'غ'। अब ऐनका अर्थ है 'शुद्ध' और 'गैन'का अर्थ है 'गन्दा' माने खराब। तब-

गैंन पूछे ऐन को, किस विधि भया तू ऐन?
सरका नुक्ता छोड़ दे, वही ऐन का ऐन।।

अर्थात् 'गैंन' माने खराबने 'ऐन' माने अच्छेको पूछा-'तुम किस तरह शुद्ध बने हो?' तब उत्तरमें 'ऐन'ने कहा-'तू अपने सिरका नुक्ता सरका दे (छोड़ दे), तो तू शुद्ध-ही-शुद्ध हो जायगा।

इसी प्रकार जीव ब्रह्मसे पूछता है-'किस तरह ब्रह्म बना जाय? तब ब्रह्म कहता है-'तू तेरा नुक्ता अर्थात् माया-उपाधिको छोड़ दे तो तू ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

●

एक बगलमें हो जाओ

एक महात्मा रास्तेसे अपनी मस्तीमें जा रहे हैं। सामने एक भंगिन रास्तेमें झाड़ू लगा रही है। महात्माको देखकर भंगिनने कहा-'महाराजजी, एक बगलमें हो जाइये। मैं झाड़ू लगा रही हूँ! यह सुनकर महात्माजीके दिमागमें बात बैठ गयी। उन्होंने खुशीसे कहा-'हाँ माता, तूने सत्वचन बोला! तू ही मेरी गुरु है।'

संसारके सारे झगड़े, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अच्छे-बुरे आदि सभी व्यवहारोंको झाड़ू लगाकर, सरका करके एक बगलमें हो जाना ही तो बुद्धिमानी है। एक बगलमें हो जाना यानी अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना। तभी शान्ति मिलेगी। तब फिर रास्तेकी धूल अर्थात् संसारकी बेचैनी व अशान्ति तुम्हें स्पर्शतक भी न कर सकेगी।

महात्माने भंगिनसे यह सीख पाकर आनन्दमें उसे 'गुरु' कहकर पुकारा। जिससे भी कुछ शिक्षा मिलती है, वही तो गुरु है। अवधूत दत्तात्रेयने इसी प्रकार चौबीस गुरु बनाये थे। गुण-ग्रहणकी दृष्टिसे देखनेपर हर किसीसे कुछ-न-कुछ शिक्षा मिल ही जाती है।

●

मेरा शास्त्राध्ययन

तुम्हें कहता हूँ, सुनो! तुम केवल 'इस ग्रन्थमें ऐसा लिखा है, उस ग्रन्थमें वैसा लिखा है' आदि करते-फिरते हो। तुम्हारा यह पढ़ना ठीक नहीं हो रहा है। तुम जो कुछ पढ़ रहे हो, वह सब दूसरोंको पढ़ानेके लिए कर रहे हो! अपने लिए पढ़ नहीं रहे हो!

अपने अन्दरके साथ, वस्तुके साथ पठित विषयको मिलाकर नहीं लेना होगा क्या? तब ही तो पढ़ना होता है। केवल किताबी सिद्धान्त लेकर ही रह जाने से क्या होगा? गहराईमें प्रवेश नहीं करना होगा?

उत्तम अधिकारी सुषुप्तिके विचार द्वारा ही 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ अनुभव करके अपरोक्ष साक्षात्कार कर लेते हैं। विचार करके ही वे प्रत्यगात्मा, साक्षी, असंग, चैतन्यरूप आत्माको जान लेते हैं।

निम्न अधिकारी समाधिके द्वारा उस तत्त्वका अपरोक्ष करते हैं। जाग्रत् -स्वप्न-सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओंपर वेदान्तकी नींव आश्रित (प्रतिष्ठित) है। इन तीनों अवस्थाओंके बारेमें सदा विचार करते रहना चाहिए।

सुषुप्तिमें आत्मा असंग चिद्रूपमें रहता है। अपने अनुभवके साथ उसे मिलाकर क्यों नहीं देख लेते हो?

●

मुमुक्षु तथा गीता

मेरे विचारसे उत्तम मुमुक्षुके लिए 'गीता' मानो विष जैसी है। बेचारेके प्राण कण्ठमें हैं। चैनके लिए छटपटा रहा है। उसे 'गीता' पढ़नेके लिए कहनेसे क्या होगा? 'गीता'का तात्पर्य क्या है, इसे लेकर ही कितनी मारकाट, लड़ाई और न जाने कितने झगड़े हुए। द्वैत-अद्वैतपर कितने व्याख्यान हुए, इसका कहीं अन्त नहीं है।

बेचारा मुमुक्षु किधर जाय? आया थोड़ी शान्तिके लिए और, कहीं

और ही उलझनमें फँस गया। उसे दिखाना होगा, सीधा रास्ता। उसका क्या कर्त्तव्य है, यह उसे स्पष्ट कह देना होगा। यही है गीताका दूषण! और दूषण भी कहता हूँ।

गीताके दो-एक श्लोक पढ़नेसे भी मनमें जिज्ञासाका उदय होता है। परन्तु जिज्ञासाकी निवृत्ति करनेमें मतमतान्तरोंके जालमें भटकना पड़ता है। विभिन्न मतोंके सघन जंगलमें ढकेल देनेसे क्या उसके लिए विष जैसा नहीं होता? वह तो एकदम भटके हुए (की तरह) रह जाता है।

सुतराम मुमुक्षुको 'गीता-उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र'की व्याख्या तथा भाष्यके अथाह समुद्रमें डाल देनेपर उसकी क्या दशा होती होगी, इसका आसानीसे अन्दाज लगा सकते हो।

उसका बेचैन चित्त और भी बेचैन हो उठता है। उसको चाहिए थोड़ी सहायता। क्या यह सहायता देनेका काम हुआ? उसकी दशा तो पानीमें डूबते हुए व्यक्ति जैसी हुई! पानीमें डूबकर कोई लहरमें तैरता हुआ किनारे आ लगा! तब वह निर्बल अचेत स्थितिमें पड़ा है। तब यदि उसे कोई खींचकर किनारे ले आकर रख दे, तो वहाँ पड़ा रहकर धीरे-धीरे उसके शरीरमें बल आयेगा एवं उठकर खड़ा हो सकेगा। उसके प्राण बच जायेंगे। नहीं तो, किनारेसे फिर लहरकी चपेटमें आकर अथाह पानीमें जा पहुँचेगा। उस स्थितिमें उसे कैसे पानीमें गिरना, कैसे तैरना होता है, आदि-आदि उपदेश देना मूर्खता है। उसे थोड़ा खींचकर जमीनकी ओर ले आना आवश्यक है।

उसी प्रकार मुमुक्षुकी अवस्था है। अवश्य, मैं उत्तम मुमुक्षुकी बात जो कह रहा हूँ। उसे कहना होगा-'क्यों भ्रान्तिमें पड़े हो? अपनेको बद्ध सोच रहे हो, यही तुम्हारी भ्रान्ति है। यह संसार स्वप्नकी तरह मिथ्या है। तुम ही नित्य-मुक्त आत्मा हो। अपनेको पहचानो।'

इतना सहारा उसके लिए पर्याप्त है। क्या सच्ची बात नहीं कहोगे? मन-ही-मन विश्वास पूर्वक जिस सत्यको तुमने जाना है, उसे नहीं

कहोगे? उसे 'ऐसा करो-वैसा करो' कहकर झूठे साधन-प्रपंचमें डालकर बहकानेसे क्या फायदा? यदि एक ही बातसे काम हो जाय, तो!

वसिष्ठजीने रामजीको कितने उपदेश, कितने युक्ति-तर्क, कितनी कहानियाँ सुनाकर अन्तमें कहा-'हे राम, यह संसार भूत-भविष्य-वर्तमान किसी भी कालमें नहीं है।' यह रामके प्रति वसिष्ठजीका उपदेश नहीं है। यह उनके अपने अनुभवोंका वाक्य द्वारा प्रकाश-मात्र है।

वास्तवमें दृश्य-प्रपंच कुछ भी नहीं है। वह सत्‌की प्रतीतिभर है। तुम ही सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप हो। सुषुप्तिके दृष्टान्तके द्वारा अपने स्वरूपका निश्चय करो। वहाँ तुम किस अवस्थामें रहते हो? मौजूद हो, पर वह बोध मुखसे नहीं कहा जाता। 'इस प्रकार-उस प्रकार'-कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

छोटी बहन बड़ी बहनसे पूछ रही है-'दीदी, तेरे बच्चे कैसे हुए' दीदी जबाब दे रही है-'तेरी शादी होने पर तू जानेगी। इसे मुँहसे नहीं कहा जा सकता।' यह भी वैसा ही है। स्वरूप हाजर! साहब सदा ही विद्यमान! इन्हें मुखसे प्रकट नहीं किया जा सकता। वे ही जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिमें नाना रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए तो मैं उन्हें 'गुण्डा-ठाकुर' कहता हूँ।

●

भिक्षुका आलाप (विचार)

अपने स्वरूपको जानो! यह किताव-वह किताब पढ़कर क्या लाभ हो रहा है? अन्दरकी वस्तुको जानना नहीं होगा? 'इस आचार्यने ऐसा लिखा है, फला आचार्यने वैसा कहा है'-ऐसा कहते हुए फालतू क्यों घूमते फिरते हो? फिरते हुए ढूढ़नेसे क्या मिलेगा? एक टूक लिखा है-तुम्हें सुना रहा हूँ। इसका विचार करनेसे तत्त्व जाननेके लिए कष्ट पाना नहीं होगा। यह आत्मचिन्तनात्मक है।

स्वयं सिद्ध, साधक बनकर फिर ढूँढत आप अपनेको।
बन्ध-मोक्ष आपाका मानत निमित्त बना कर मनको।।१।।
यह मन कौन कहाँ ते आया, जो लाया सब उलझनको?
ताके संग समाधि लगावत, आया मानत तनको।।२।।

और, व्यवहारमें क्या कर रहे हैं? इसलिए कहा जाता है-

निर्गुण नाम सर्वका स्वामी, चाहता फिरत परधनको।
'त्याग करो अपने धनको'-अस उपदेश करत जगजनको।।३।।
आत्मा तो शयने स्वयं गुम होकर भी दूर नहीं इक छनको।
वास्तव तो वह गुम नहीं होता, गुम करत 'मैं-पन'को।।४।।

अथवा-

जागे जान लिया आपाको, तो भी देख रहा दर्पणको।।४।।

अज्ञानी तो-

दर्पणमें कुछ भी नहीं, तो भी जानत सब जगवनको।
अन्तर-बाहरका भी जानत, जानत जगके कण-कणको।।५।।
सब कुछ जानत, मानत कुछ भी नहीं, यही कहत औरनको।
कुछ भी न तो कहता किसको क्यों? यह तो मतो जबरनको।।६।।
जो पूछ रहा वही उत्तर भी देगा, क्यो पूछत कबरनको?
प्रश्नोत्तर भी आप ही करता, यथा खेल सुपनको।।७।।
सदा आप अच्युत रहकर ही, च्युत करत जग-जनको।
अद्वैत आप सदा असंगा, खडी करत खलकनको।।८।।

।। इति नाम्यन्तर् गते आत्मचिन्तनम् ।।

नाम्यात्मके महापुराणात्मके महासागरे।
प्रथम तरंगान्तर्गता, प्रथमोर्मि समाप्ता।।

(हँसकर) 'तुम केवल मन-प्रामाणिक-गम्यके वचन सुनना चाहते हो, इसलिए नाम्यान्तर्गत पुराणके वचनका उल्लेख कर दिया। अब इसे मानोगे तो!'

●

भिक्षु तथा फोटो

(जमशेदपुरके 'सुबोध बाबू'को साथ लेकर हम भिक्षुजीके दर्शनके लिए गये। 'सुबोधबाबू' अपने साथ कैमरा ले आये हैं।–स्वामी धीरेशानन्दपुरी)।

मैं बोला–'महाराजजी, आप जिस तरह बैठे हैं, वैसे ही रहिये। ये आपकी एक फोटो खीचेंगे।'

भिक्षुजी–'किसकी फोटो लेंगे? मेरी फोटो उठती नहीं। जिसकी फोटो लेनी चाहिए, उसकी फोटो कभी उठती ही नहीं। तो, किसकी फोटो लेनी है? क्या इस चामकी, मिथ्या वस्तुकी फोटो? छोड़ो ये सब झगड़े। इसमें मैं नहीं। और कोई बात हो तो पूछो।

सुबोधबाबू–'महाराजजी, संसारमें रहकर किस उपायसे भगवदानन्द मिल सकता है?'

भिक्षुजी–'जिसके भजनसे आनन्द पाना चाहते हो उसको पहले बिना जाने कैसे उसका भजन करोगे? जिसको जानते ही नहीं, उसका भजन कैसे किया जाय? और पूछ रहे हो, 'संसारमें रहकर किस तरह मन भगवान्‌की ओर लगा रहे? तो मुनीमकी तरह रहो। संसारमें परिवार, पुत्रादि पर ममता न रखो। मुनीम सेठके सारे काम करता है, परन्तु लाभ-हानिके लिए जिम्मेदार नहीं होता। वह सब सेठका ही है। उसी प्रकार यह संसार भगवान्‌का है। हम अपने कर्त्तव्य करते जा रहे हैं। अच्छा-बुरा सब कुछ उसीका है। तुम्हें संसार छोड़ देनेके लिए नहीं कहता। परन्तु अनासक्त रहकर भगवान्‌का नाम स्मरण करनेके लिए कहता हूँ। इसीसे कालान्तरमें कल्याण होगा।'

बादमें मैंने पूछा–'महाराजजी, तबियत कैसी है?'

भिक्षुजी–'शरीरकी बात क्यों पूछते हो? वृत्तिको शरीरकी ओर लगाना चाहते हो? जो पदार्थ है ही नहीं, तो फिर उसके लिए सोचना ही क्या? अनात्म माने विनाशशील वस्तुके लिए चिन्ता किस बातकी? तुम्हें

एक बात कह रहा हूँ, ध्यानसे लिख रखो! जबतक शरीरसे वैराग्य नहीं होगा, तबतक केवल संसारके बाहरी पदार्थसे वैराग्य करनेसे कुछ भी नहीं होगा। जबतक शरीरसे अहंता-ममता रहेगी, तबतक अन्य वस्तुसे वैराग्य करनेसे क्या लाभ? पंचभूतोंसे निर्मित यह शरीर कितनी गन्दी-घृणित चीजोंसे भरा पड़ा है? इसमें घृणा आये बिना सब कुछ ही व्यर्थ हो जाता है।'

मैंने कहा-'यह बात मुमुक्षुओंके लिए बहुत ही लाभदायी है।'

भिक्षुजी-'कब तक और बनकर रहोगे? वस्तुमें निष्ठा नहीं करोगे? एक बार वस्तुको समझ लो। और, उसी ओर झुक जाना कर्त्तव्य है।'

मैं-'ठीक है, पर वस्तुमें दृढ़ता आये बिना, बुद्धि दृढ़ हुए बिना, मात्र अपनेको तृप्त (कृत कृत्य) सोचनेसे ही तृप्ति तो नहीं होती? बिना भोजन किये, केवल बातोंसे तो तृप्ति नहीं होती?'

भिक्षुजी-ठीक है, परन्तु दृढ़ता क्यों नहीं आती? वस्तुको अच्छी तरह नहीं समझनेके कारण वैसा होता है। ठीक समझ जाने पर दृढ़ता क्यों नहीं आयेगी?

मैं-'बात तो ठीक है। संशय-विपर्ययाविरहित होकर वस्तुका ज्ञान हो जाने पर दृढ़ता अपने आप आ जाती है।'

भिक्षुजी-'हाँ, ठीक समझ लेकर उसी ओर झुक (लग) जाओ। अर्थात् तन्निष्ठ हो जाओ।'

●

बीरबलकी काक-गणना

अकबर बादशाहने बीरबलसे पूछा-'हमारे राज्यमें कितने कौए हैं?' उत्तरमें बीरबलने कहा-'गिनकर हिसाब जोड़नेमें समय भी चाहिए और खर्च भी काफी करना पड़ेगा।'

बादशाहने बीरबलकी माँगके अनुसार कई हजार रुपये दे दिये।

समय बीतता गया। बादशाहके पूछने पर बीरबल कहता–'हुजूर! अभी गिनना बाकी है।'

कुछ कालके बाद बीरबलने कहा–'जहाँपनाह! हिसाब तैयार है। आपके राज्यमें इतने करोड़, इतने लाख, इतने हजार, इतने सौ, इतने कौए हैं।'

अकबर–'यदि हिसाबमें कमी-बेशी हुई तो?'

बीरबल बहुत चालाक है। उसने उत्तर दिया–'हुजूर! यदि ज्यादा निकले, तो समझिये कि दूसरे राज्यसे इतने मेहमान आ गये होंगे। और, हिसाबसे कम निकले तो जानिये कि आपके राज्यके कुछ कौए दूसरे राज्यमें मेहमान बनकर चले गये।'

इस उत्तरसे बादशाह खुश हुए। बीरबलकी संख्यागणना जैसे मिथ्या है, यह संसार भी उसी प्रकार मिथ्या है। शास्त्रोंमें जितने विधि-निषेध हैं, वह बीरबल-कथित मेहमान-कौएके आने-जाने जैसे हैं। वह तो अज्ञानियोंको प्रबोध देनेके लिए हैं। वास्तवमें जगत्‌का तो अस्तित्व ही नहीं है। यह तो स्वप्न-विलास है। स्वप्नमें यदि कोई पोथी खोलकर कहे कि 'यह करो, यह मत करो'–यह शास्त्रका विधान है, तो यह जाग्रत भी उसी प्रकार है।

●

ब्राह्मणका भोजन

एक वृद्ध ब्राह्मण निमन्त्रणमें खानेके लिए गये। उन्हें आनेमें देर हो रही है। वृद्धा सास बहूसे कहने लगी–'बेटी, तुम्हारे ससुर निमन्त्रण-खानेमें गये हैं। भोजन करके आनेके बाद वे न तो बैठ ही सकेंगे, न खड़े ही रह सकेंगे। तुम उनके लिए एक चारपाई लगाकर रखो, जिससे आते ही वे लेट सकें।'

बहूने जबाब दिया–'यह क्या? यहाँ चारपाई क्यों लगायी जाय?

भला, यह कैसा निमन्त्रण-खाना हुआ? यदि भोजन करके इतनी दूर चलकर घर आ ही गये तो भोजन करना कैसे हुआ? मेरे पिताजी होते तो वहीं चारपाई मँगवा लेते और खाकर उसी जगह सो जाते!'

ब्राह्मणोंका भोजन इसी प्रकार होता है।

●

मेरा लेख

'तुम केवल वेदान्तकी बात लिखते हो! सबकुछ लिख लेना तुम्हारी आदत है। तो, अच्छा ही है।'

'परन्तु मैं ऐसा लिखनेका मतलब समझता हूँ। वह लेख वैसा-का-वैसा ही पड़ा (धरा) रह जाता है। अन्दर कुछ भी प्रवेश नहीं करता। जानते हो, मैं क्या करता हूँ? मैं जो कुछ भी पढ़ता हूँ या सुनता हूँ, वह मनमें ही लिखकर रखता हूँ। जो बात जम गयी, वह रह गयी और जो नहीं जमी, वह निकल गयी। विचार पूर्वक वस्तुका निर्णय करके मनमें गूँथ लेना ही बहादुरी है।

●

वैदिक उपासना एवं भक्ति

वेदके मंत्र-भागमें भक्ति (भेद एवं परोक्ष-वस्तुकी उपासना)की बात नहीं है। उपासनाकी बात अवश्य है। परन्तु वह उपासना परोक्ष वस्तुके बारेमें नहीं है। किसी प्रत्यक्ष वस्तुका अवलम्बन करके है। अपनेको ब्रह्मरूपमें जानकर की जानेवाली उपासनाकी तरह है। मनको ब्रह्मरूपमें जानकर उपासना करो!

परोक्ष विष्णुलोकादि-निवासी किसी देवता-विशेषकी उपासना वेदमें नहीं है। ये सब तथा अवतारादिकी कथाएँ पौराणिक हैं।

भजन अवश्य ही करना चाहिए। परन्तु अपना तात्पर्य क्या है? 'भज् सेवायाम्'। 'सेवनम्'। 'मात्र चिन्तनम्'। सेवा अर्थात् तत्त्वचिन्तन।

हाथ जोड़कर खिदमतगारी करनेका नाम सेवा नहीं। भगवान्‌का चिन्तन ही वास्तविक भगवान्‌की सेवा है।

'प्रभु! रक्षा करो'–ऐसा कहकर दीनता नहीं करनी है। वह चिन्तन और सेवा ऐसी होनी चाहिए कि सेव्य-सेवकका भाव ही मिट जाय, भेद ही न रहे। भेद मिट जाय। तभी तो अनन्य भक्ति हुई। न अन्य माने अनन्य। अर्थात् अभिन्न। 'अनन्य-भक्ति'का माने है अभिन्न भक्ति। जिस भक्ति व भजनसे परमेश्वरसे अपना भेद नहीं रह जाता, वही वास्तविक अनन्य भक्ति व भजन है। नहीं तो केवल रोना-कराहना हुआ–'प्रभु! मुझे यह दो, वह दो; मेरी रक्षा करो' आदि। ये सब भक्ति नहीं है। ये सब मूर्खोंका पागलपन है।

कौन तुम्हारी रक्षा करे? कौन तुम्हें क्या दे? तुमने तो अपने आप ही अपनेको दुःखमें डुबाया। झूठ-मूठ, अपनेको जीव, दुःखी आदि सोच रहे हो! इसलिए तो मैं कहता हूँ कि ये सब 'चेतनदेव, महागुण्डे ठाकुर'का खेल है। उसकी मर्जी है। वह संसारका मिथ्या खेल खेलेगा। इसलिए कहा है–

मर्जी चेतनदेवकी झख मारनकी होय।
मृगतृष्णाके नीरमें वह चले बिन तोय।।

अर्थात् चेतनदेवको इस झखमारण माने मिथ्या खेल खेलनेका शौक हुआ है। इसलिए देखो, मृगतृष्णाके जलमें, 'बिना तोय' अर्थात् वहाँ जल किसी कालमें न रहते हुए भी जलमें 'वह चले' यानी बहता चला जारहा है। कहो तो, मेरा 'गुण्डा ठाकुर' क्या गजबका है!

एकान्त व सत् धार्मिक, गरीब गृहस्थके अन्तमें जो आनन्द है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

जैसा आनन्द छज्जनके चौबारेमें।
ऐसा आनन्द नहीं है बलख बोखारेमें।।

●

शरीरसे वैराग्य

कोई कितना भी क्यों न करे, शरीरसे वैराग्य आये बिना कुछ भी नहीं होनेका। अन्य रूप-रसादि विषयको 'विनाशी, अनित्य, दुःखदायी' आदि-आदि कहकर लोग वैराग्य करते हैं; परन्तु शरीरका सुख-दुःख, ऐश-आराम त्याग (छोड़) नहीं सकते। (अपने शरीरको छोड़कर) सब कुछ ही मिथ्या है। सिवाय अपने शरीरको छोड़कर-ऐसी बात करते हैं। उससे क्या होगा? शरीरसे वीतरागता-ग्लानि आनी चाहिए।

सोचो, दो मित्रोंमें बहुत ही लगाव है। तभी तो एक जनकी बात पूछने पर दूसरा कितने आग्रह, कितने प्रेमके साथ उसकी बात करता है! उसी प्रकार जिसका मन सदा शरीरमें आसक्त है, उससे शरीरकी चर्चा छेड़ देनेसे वह अत्यन्त खुशीके साथ उसका बखान करता है। दुःख होने पर भी बढ़ा-चढ़ाकर सुनाता है।

और, यदि दो मित्रोंमें अलगाव रहा तो एक दूसरेको बात छेड़ने पर या तो मुँह फेर लेते हैं, नहीं तो चुप्पी साध लेते हैं। उसकी चर्चा उठाते ही नाराज हो जाते हैं।

इसी प्रकार जिसका मन शरीरसे उपराम हो गया, उससे शरीरकी बात पूछने पर या तो वह चुप रह जाता है, नहीं तो नाराज हो जाता है। शरीरका प्रसंग उठाना ही नहीं चाहता।

तुम अक्सर मुझसे शरीरकी बात पूछते हो। इससे लाभ ही क्या है? शरीर कभी भी किसीका अच्छा रहता है? शरीरका धर्म ही है व्याधि। कुछ-न-कुछ तो लगी ही रहेगी। तो फिर मिथ्याभूत इस शरीरकी चर्चासे क्या लाभ?

शरीरपर जितना ध्यान दोगे, मन उतना ही शरीरकी ओर जायेगा। उस ओर खयाल ही नहीं करना चाहिए। शरीर ही तो महान् उपाधि है। इसमें अहं-अभिमान करनेके कारण ही तो जीवभाव प्राप्त हुआ है।

देहरूपी उपाधिसे आत्माभिमान छोड़ देते ही तो अपने स्वरूपानन्दमें स्थिति हो जाती है। तब सब ही एकाकार।

जबतक हाथमें टिकट लेकर रेलके डिब्बेमें बैठे हो, तबतक ही तो 'ये पहले दर्जेके', 'ये दूसरे दर्जेके', 'ये तीसरे दर्जेके मुसाफिर'–इस तरहका भेदभाव रहता है। टिकट-मास्टरके हाथमें टिकट देकर फाटकसे जब बाहर निकल आये, तब सब एक दर्जेके! तब और भेद नहीं रह गया। यह टिकट ही भेद-व्यवहारका कारण था।

इसी प्रकार शरीरके ऊपर अभिमान ही सारे भेद-व्यवहारकी जड़ है। इसे बिना छोड़े क्या होगा? इसलिए तो मैं सही बात ही करता हूँ। जो इसे नहीं ले सकता, वह जाय अपने साधन (मतलब)की खोजमें! यदि एक ही बातसे काम बन जाय तो, 'यह करो–वह करो' कहकर झूठ-मूठ लोगोंको बहकानेसे क्या फायदा?

●

वेदान्त-विद्वेषी

द्वैतवादी लोग अद्वैतवादी लोगोंसे द्वेष करते हैं। अद्वैत क्या चीज है; पहले इसे जानो, फिर द्वेष करो! बिना जाने द्वेष करना किस तरह सम्भव हो सकता है? बिना जाने-पहचाने किसीसे द्वेष करना मूर्खताके सिवाय और क्या है! उर्दूमें एक शे़र है–

बिना पिए शराब से नफरत
यह जहालत नहीं तो और क्या है?

शराब पिये बिना ही उसकी निन्दा करना मूर्खताके सिवाय और क्या है? हाँ, बड़े-बूढ़ोंका, गुरुजनोंका अनुभव और शास्त्र-वचन प्रमाण हुआ करता है, दुर्गुणोंको छोड़नेमें।

इबादत के बदले मिले हुए जन्नत
यह तिजारत नहीं तो और क्या है?

इबादत यानी प्रार्थनाके द्वारा द्वैतवादियोंको अप्सराएँ (हूर) व स्वर्ग

(जन्नत) मिल जाते हैं। भगवान्‌की आराधना करके उनकी भेंट-पूजा करनेसे लोगोंको कुछ-न-कुछ भोग्य वस्तु ही तो मिलती है। उससे अधिक क्या मिले? यह 'तिजारत' माने व्यापार व दुकानदारीके सिवाय और है ही क्या?

भगवान्‌से भी लोग दुकानदारी करनी पसन्द करते हैं। असली वस्तुकी तलाश कोई नहीं करता। लोग केवल चाहते हैं—'यह दो—वह दो!' सबकुछ दुकानदारी है।

●

मतवाला तथा उसकी निष्ठा

एक गुण्डे शराबीने कलवारकी दुकानमें जाकर एक पैसेकी शराब माँगी। दुकानदारने ध्यान ही नहीं दिया। तब वह गुण्डा बोला—'मेरी बात नहीं सुनी क्या? मुझे एक पैसेकी शराब क्यों नहीं दे रहे हो?'

दुकानदारने कहा—'एक पैसेकी शराब मिलती है क्या? एक पैसेकी शराबमें क्या नशा होता है?'

गुण्डा—'तुम दो न! नशा होना—न होना तो मेरे हाथकी बात है।'

यह सुनकर दुकानदारने एक पैसा लेकर उसके हाथके ऊपर दो-चार बूँद शराब डाल दी। गुण्डा उन कई बूँदोंको लेकर नाक एवं होठोंमें छींटा दे (मल)कर खूब मतवाला हो गया। यानी नशेकी मादकताकी कल्पना द्वारा ही वह नशेमें मस्त हो गया। उसकी निष्ठाने ही उसे नशेमें मस्त बना दिया।

इस प्रकार जो अधिकारी है, वह कहीं भी हो, कुछ बातें सुनकर ही अपनी निष्ठा पक्की कर लेता है। 'किसने कहा है'—इस ओर ध्यान नहीं देता; बातको ही ले लेता है। बातकी ही कीमत अधिक है। बातकी सत्यता-असत्यताका विचार करके अपनी भावनाके अनुकूल हो तो उसके द्वारा अपनी निष्ठा और भी दृढ़ और पक्की बना लेता है। वास्तविक अधिकारीके लिए कोई भी व्यक्ति व वस्तु उसका गुरु हो सकता है। ●

आ गया हूँ?' मैंने कहा—'तुम अन्धे हो गये हो, यह तो बहुत अच्छा हुआ।' यह सुनकर अवाक् हो गये वे। फिर बोले—'क्या कहा आपने महाराज? मैं अन्धा हो गया हूँ और आप कहते हैं—'अच्छा हुआ है?'

मैं—'हाँ, ठीक ही कहा है। देखो, ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, त्वचा) जीवोंको सदा विषयोंकी ओर खींच रही हैं। आँखोंका रूपके प्रति आकर्षण अत्यन्त तीव्र है। वही सबसे अधिक विक्षेप उत्पन्न करती हैं। तुम्हारी आँखें खराब हो जानेसे रूप-दर्शन-जनित विक्षेप तो बच गया! तुम्हारा संघर्ष कितना कम हो गया?'

इसे सुनकर वे बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा—'हाँ, ठीक ही कहा महाराजजी, आपने!'

●

शारीरिक कुशलताका प्रश्न तथा कुत्ते

मैंने (धीरेशानन्दपुरी) पूछा—'कैसे हैं महाराजजी!'

भिक्षुजी—'देख लो, शरीर तो तुम्हारे सामने ही है। तुम्हारी नजर केवल चमड़ेकी ओर ही है। शरीरकी बातसे क्या होगा? कैसा सुन्दर वेदान्तका प्रसङ्ग चल रहा था और तुम उसे उलटकर कहाँ ले आये? 'कैसे हैं महाराज?' इन सब बातोंमें रखा ही क्या है? जैसा चलता है वैसा ही चलेगा! उस ओर मन ही देना नहीं चाहिए। देनेसे चक्करसे निकल ही नहीं सकोगे। उसीमें चक्कर खाते रहना पड़ेगा। निकलनेका रास्ता ही नहीं मिलेगा।

'सोचो, भिक्षाके लिए जाते समय किसी गलीमें गये। रास्तेमें कुत्ते हैं। किसी ओर ध्यान न देकर चला गया, तो पहुँच गया। परन्तु यदि कुत्तोंकी ओर नजर उठायी तो वे गुर्राने लगेंगे। और, भौंकते हुए वे तुम्हारे पीछे ऐसे पड़ जायेंगे कि गलियोंमें जाकर भिक्षा ले आना तो दूर रहा, गलीमें-से जान बचाकर निकल आना ही मुश्किल हो जाता है।' यह है दृष्टान्त!

उसी प्रकार यदि एक बार शरीरकी ओर ध्यान दिया नहीं कि उससे पिण्ड छुड़ाना ही कठिन हो जाता है। जान लेकर खींचातानी। इसलिए उस ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। जितनी ही उपेक्षाकी भावना अपनायी जा सके, उतना ही लाभ है। मनको सदा वस्तुतथ्यकी ओर ही लगाये रखना होगा।

●

क्षणभरका इशारा

एक प्रेमी कहता है—

आई थी आग लेने,
दिलमें आग दे गयी;
एक आँखके मरोड़से
करोड़ बातें कह गयी।

अर्थात्—'मेरी प्यारी थोड़ी आग लेने आयी थी। परन्तु वह तो मेरे दिलमें ही आग लगा गयी। आँखके एक इशारेमें ही वह मुझे करोड़ों बातें कह गयी।'

प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरेके इशारे-मात्रसे ही कितनी बातें समझ लेते हैं। लाख कहनेपर भी अनधिकारी नहीं समझ पाता। अधिकारीके लिए दो-चार बातें ही पर्याप्त हैं। अधिक कहनेकी आवश्यकता ही क्या है? समझदार हो तो समझ लो! पर समझदार है कहाँ? सब ही तो अकलके दुश्मन हैं।

दूसरी ओर आचार्य लोगोंने भी कितने-सारे मत-मतान्तरोंका जाल बिछाकर लोगोंको और भी भ्रान्त कर दिया है। कवि तथा साहित्यकारोंकी शक्ति अपार-सी है। वे देशभरके लोगोंको अपने-अपने विचारोंसे विभ्रान्त कर देते हैं। 'यह करो-वह करो' कहकर मिथ्या कल्पनाके पीछे दौड़ते रहते हैं। तब वे सत्यवस्तुको खोज ही नहीं पाते।

●

अवस्थात्रय तथा दृष्टि-सृष्टिवाद

जाग्रतको आधार बनाकर 'सृष्टि-दृष्टिवाद' हुआ है। स्वप्नको आधार बनाकर 'दृष्टि-समकालीन सृष्टिवाद' हुआ है। सुषुप्तिको आधार बनाकर 'दृष्टिरेव-सृष्टिवाद' हुआ है।

सुषुप्तिमें जैसे मैं एक ही हूँ, और कुछ भी नहीं है; उसी प्रकार 'दृष्टिरेव सृष्टि'। कुछ भी नहीं है। सब कुछ मेरा ही रूप है। स्वरूपस्थित ज्ञान ही सबकुछ है।

विचारशील पुरुष अवस्थात्रयके विचार द्वारा ही जगत्का मिथ्यात्व एवं अपने नित्य स्वरूपका निर्णय कर लेते हैं।

भृगुको ज्ञान किस प्रकारसे हुआ? सुषुप्तिमें मेरेमें ही सब लीन एवं मुझसे ही जाग्रत-स्वप्न-प्रपंचकी उत्पत्ति होती है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'

इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मका यह लक्षण सुप्त स्थित मेरेमें ही वर्तमान है। अतः मैं ही वह ब्रह्म हूँ। सुषुप्तिकालीन जो मैं हूँ, जाग्रत-स्वप्नमें भी तो वही मैं हूँ।' मैं ही नित्य-शुद्ध-मुक्त स्वभाव सदा विद्यमान।'

तो फिर क्यों जाग्रत तथा स्वप्न-प्रतीतिके सत्यत्वकी कल्पना करके कष्ट पा रहे हो? अपनेको पहचानो! तब सबकुछ एकाकार! वस्तुतः कुछ भी नहीं है। केवल एक विज्ञानस्वरूप ही सदा विद्यमान है, उसे क्यों नहीं समझते हो? अपनी चार अध्यायकी पुस्तकको ही पढ़ो। जाओ, अन्य पुस्तकोंकी क्या आवश्यकता है?

●

जाटका हलुआ खाना

अमृतसरके बाजारमें एक जाट आया है। उसे भूख लगी है। परन्तु जेबमें कुल आठ आने पैसे रहनेके कारण उसने केलव रोटी ही खरीदकर

खानेकी सोची। वहाँ हलवाईकी बहुत दुकानें हैं। एक सिक्ख हलवाईने कहा—'हलुआ खाओ।'

'पैसे कुल आठ आने हैं, हलुआ कैसे खाऊँ? भूख लगी है। इस आठ आनेमें यदि भरपेट हलुआ खिला सकते हो, तो खिलाओ।'—जाटने कहा।

धूर्त सरदार बोला—'अच्छा, वैसा ही होगा।' यह कहकर उसे खिलानेके लिए बिठाया और बड़े दोनेमें गोबर भरकर, ऊपरसे थोड़ा हलुआ रखकर खानेके लिए दिया।

भोलाभाला जाट सब खा गया। सरदारने पूछा—'अरे जाट, हलुआ कैसा लगा?'

जाट—'मैं तो गुरुनानकदेवजीका प्रसाद जानकर सब खा गया, पर गोबरकी जैसी बू और जायका भी गोबर जैसा लगा।'—जाटने जवाब दिया।

इसी प्रकार पण्डित लोग कितने मतमतान्तर एवं बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। परन्तु सबके अन्दर गोबर वही गोबरकी बू और गोबरका जायका है। अर्थात् सबकी हठवादिता व अपने मन स्थापनका दुराग्रह देखनेमें आता है। लम्बी-चौड़ी बातोंके पीछे वही दुराग्रह छिपा है, जिस प्रकार हलुआके नीचे गोबर!

●

अच्छा तो हुआ, आँख खराब हो गयी

अटल अखाड़ामें महेश्वरानन्दके चाचा मेरे पास आया करते थे। उनकी आँखोंमें मोतियाबिन्द हुआ था। ऑपरेशन करानेपर दोनों आँखें खराब हो गयीं और बेचारे अन्धे हो गये। वे मेरे पास आकर दुःख प्रकट करने लगे—'महाराजजी, दोनों आँखें मारी गयी हैं। अब तो अन्धा हो गया हूँ। कुछ भी नजर नहीं आता। कैसी बुरी गति हो गयी है? कैसी बुरी दशामें

मुमुक्षुओंके महोत्सव

जीवभावं परित्यज्य शिवभावम् तथैव च।
निर्विकारतया संस्थं महोत्सवं मुमुक्षुनाम्।।

जीवभाव तथा शिवभाव दोनोंके परित्यागसे जो रहता है, सो है, पारमार्थिक वस्तु मन-वाणीसे परे है। जिस तरह जीवभाव ममकारात्मक है, शिवभाव भी उसी प्रकार अभिमानात्मक है। तत्त्व-वस्तु सारे अभिमानोंसे रहित है। उस स्थितिमें पहुँच जाना ही मुमुक्षुओंका महोत्सव है। यानी वह परमानन्द-स्थिति कहने-सुननेका विषय नहीं है। जिसने जाना है, समझा है, वही जानता है, समझता है।

●

'परिच्छेद'-शब्दका अर्थ

सभी ग्रन्थोंमें परिच्छेदोंका विभाजन रहता है। भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें उसे भिन्न-भिन्न नामसे कहा गया है। इसके बारेमें 'न्याय-प्रकाश' ग्रन्थमें एक श्लोक है—

ग्रन्थस्य सन्धिविशेषः। अत्रोच्यते। परिच्छिेद ग्रन्थका जोड़ जैसा है।

सर्गवर्गपरिच्छेदोद्घाताध्यायांकसंग्रहाः ।
उच्छ्वासः परिवर्त्तश्च पटलं काण्डमस्त्रियाम्।।
स्थानं प्रकरणं पर्वान्हिकं च ग्रन्थसंचयः।।
इति एवमन्योऽपि पाद-लम्बुक-तरंग-स्तवकः।
प्रपाठक इत्यादयोपि यथायथं ग्रन्थसंधयः।।

जैसे काव्यमें सर्ग, कोशमें वर्ग, अलंकारमें परिच्छेद, उच्छ्वास। कथामें उद्घात। संहिता-पुराणादिमें अध्याय, नाटकमें अंक, तन्त्रमें पटल, ब्राह्मणोंमें काण्ड, इतिहासमें पर्व, भाष्यमें आन्हिक—इस प्रकार (न्यायकोश)।

यह विषय तुम्हारे कामका है। यह सोचकर निकालकर रखा है। इसकी एक प्रति मँगवाकर तुम्हारे पुस्तकालयमें रखना चाहिए। विभिन्न ग्रन्थमें विभिन्न विषयोंके अध्यायके नाम विभिन्न होते हैं। बहुतोंको शायद इसका पता न होगा। जैसे–

काव्यमें प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग; कोशमें प्रथम वर्ग, द्वितीय वर्ग आन्ि–आदि समझना चाहिए।

●

भेदाभेदातीत वस्तु

दो दोहे बनाये हैं, उन्हें आज तुम्हें सुनाऊँगा–

कर्त्ताका कर्त्ता नहीं, नामीका नहिं नाम।
सगुनमें गुन नहीं, कामीमें नहिं काम।।1।।
सगुन भी निर्गुन सदा, निर्गुन सगुन न होय।
तो फिर झगड़ा क्यों रे, एक रहा ना दोय।।2।।

कर्त्तत्व कर्तामें है या अकर्त्तामें?
नाम नामीमें है या अनामीमें?
गुन गुनीमें है या अगुनीमें?
काम कामीमें है या अकामीमें?

विचारसे कोई भी पक्ष नहीं टिकता। इसे पंचदशीके 1/50 श्लोकमें देखना चाहिए। आत्माश्रयी सारे दोष आ जाते हैं। इसलिए गुणादि सगुण व निर्गुण किसीमें नहीं रहते। अतः जिसे सगुण कहते हो, वह निर्गुणके सिवाय और कुछ नहीं है। निर्गुण कभी भी सगुण नहीं हो सकता। तो फिर झगड़ा क्यों करते-फिरते हो, वस्तु एक व दो कहकर?

वस्तु एक भी नहीं, दो भी नहीं; एक दोनोंसे परे हैं, सर्व विकल्पोंसे अतीत। उसीमें एकत्व, द्वित्व, गुणत्व, निर्गुणत्व–ये सब कल्पित हैं।

●

अवस्थाद्वय तथा अध्यात्म-विद्या

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंके विचार द्वारा तुरीय ब्रह्मका निरूपण सारे वेदान्तने किया है। वह ठीक है, उसमें कुछ भी आपत्ति नहीं। पर मैं कहता हूँ कि तीन अवस्थाकी क्या आवश्यकता है? अवस्थाद्वय ही तो पर्याप्त है। उन्मेष और निमेष!

जब चित्तमें दृश्य-पदार्थ भासित हो उठते हैं (यानी जाग्रत-स्वप्न), यह एक अवस्था है, यही उन्मेष है। और चित्त जब दृश्यरहित होता है, यानी सुषुप्ति! वही निमेष है। ये दोनों अवस्थाएँ आती-जाती हैं। इनमें आत्मा निर्लिप्त, निर्विकार! यही तुरीयावस्था है, तुरीय अवस्था पृथक् रूपसे और कुछ नहीं है। उपाधियोंके संयोगसे इसीके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

तुरीय कोई दूरकी वस्तु नहीं है। इसे समझानेके लिए ग्रन्थकारोंकी तरह-तरहकी चेष्टाएँ हैं। उसीमें सामान्य-विशेषकी कल्पनाएँ हैं। विशेष-अंशके अज्ञानको मिटानेके लिए कितनी सारी प्रक्रियाओंकी रचना हुई। कल्पनाका कहीं अन्त ही नहीं। आसानीसे हो जाय तो इतनी वाक्कुशलताकी क्या आवश्यकता है?

अध्यात्म-विद्या किसे कहते हैं, जानते हो? आत्मा सम्बन्धी विद्याका नाम ही अध्यात्म-विद्या है। वह केवल अद्वैतवादमें नहीं है। देहातिरिक्त आत्मा सम्बन्धी विद्या ही अध्यात्मविद्या है। 'आत्मा देहसे भिन्न है'। इस बातको द्वैतवादी, नैयायिक, विशेषिक ये सभी लोग मानते हैं। अतः ये सब मत भी अध्यात्म-विद्या है। 'चर्वाक् मत' यानी देहात्मवाद। इसे छोड़कर और सब अध्यात्मवाद है।

●

चरणामृत-पान

मन्दिरके पुजारी लोग मन्त्र पढ़ते हुए चरणामृत देते हैं और दक्षिणा वसूल करते हैं। इससे कुछ होता है क्या? लोग तो भक्तिभावसे लेते हैं, परन्तु जो होनेका है, सो तो होके ही रहता है। एक अन्धविश्वासके ऊपर

जगत्का खेल चल रहा है। मानो (शून्य) 'हवा महल'की कितनी कल्पनाएँ हो रही हैं? असल तत्त्व कहाँ है? स्वप्नका ही तो तमाशा चल रहा है! 'अकाल मृत्यु-हरणम्, आदि कितने ही मणि-मन्त्र हैं? अकाल मृत्यु हरण होता है क्या? होता तो नहीं फिर भी लोग विश्वास जमाये बैठे हैं! वे तत्त्वकी खोज नहीं करते!

'अकाल मृत्यु हरणम्, सर्वपाप विनाशनम् और ठाकुरजीके शरणम्', आदि इस तरहके कितने ही मन्त्रोंका प्रचलन है। सबकुछ स्वप्नका खेल है। तत्त्ववस्तु जो है सो निर्विकार, निष्क्रिय चैतन्तस्वरूप है। कौन जानना चाहता है?

●

हिन्दीके कवि

एक दोहेमें हिन्दीके प्रसिद्ध कवियोंके नाम लिये गये हैं—

चन्द छन्द पद सूर के, दोहा बिहारी दास।
चौपाई तुलसीदास की, केशव काव्य-विलास।।

कवि 'चन्द' विख्यात काव्य 'पृथ्वीराजरासो' का निर्माता है। आपने छन्दमें अनेकानेक मनोहर कविताकी रचनाकी है। उनके छन्द मशहूर हैं।

'बिहारीदास'जीके दोहे प्रसिद्ध हैं। आपने दोहोमें अनेकानेक कविताकी रचना की है।

'श्री तुलसीदास'जीकी चौपाई जन-जनमें परिचित है। क्या अति उत्तम है! उनके रचित 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थोंसे जाहिर है।

'केशव'जीने काव्य-रचनामें प्रसिद्धि प्राप्त की है। 'रसिकप्रिया' उनके द्वारा रचित काव्य है।

सूरदासकी पदावली विख्यात है। भक्तगण भक्तिरससे भरपूर उनके रचित गीतोंका साग्रह कीर्तन करते हैं। प्राचीन कवियोंमें चन्द, सूरदास, बिहारीदास, तुलसीदास तथा केशवदासजीने प्रसिद्धि प्राप्त की है। ●

लौटते समय जब पीछेसे कमीज खींचने लगी तो उसने ऐसा ही सोचा कि 'भूतने मुझे पकड़ लिया।' उसी घबड़ाहट और डरके मारे उसी समय वह मर भी गया।

इसी तरह लोग द्वैतको सत्य मानकर दुःख झेलते रहते हैं। देवी-देवता आदि पर जो लोग विश्वास करते हैं, वह सबकुछ अपनी-अपनी भावनाएँ हैं। कल्पना ही सत्य प्रतीत होती है। सत्य-प्राप्तिके लिए जो कुछ सहायक हो, उन्हें उसी प्रकार जानना; मैं तुम्हें उसी प्रकार कहता हूँ।

साधकके लिए वही हितकारी है। सोचो तो सही, जब घर छोड़कर आया, तब माँ-बापने कितने आँसू बहाये होंगे? उन्हें दुःख देकर आया और संन्यास लेकर फिर यदि फिजूल बातोंके पीछे पड़कर वस्तु-प्राप्तिकी चेष्टा न की तो उसे धिक्कार है। धूल पड़े उसपर, आग लग जाय उसके मुँहमें।

वैराग्यपूर्वक भेख लेकर इसका खयाल करना चाहिए कि नहीं? तुम सब पढ़-लिखनेके बाद साधु बने हो, इसलिए ये सब बातें कहता हूँ। अनुभूत वस्तुका सदा ही अनुभव हो रहा है, परन्तु मायाका ऐसा चमत्कार है कि लोग अपनेको भिन्न-भिन्न उपाधिके साथ तादात्म्यापन्न कर लेते हैं एवं उन्हें ही अनेक रूपमोंमें कल्पना कर लेते हैं। जो कुछ भी भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं, वे सब-की-सब मानसिक हैं, इसलिए वे मिथ्या हैं, आविद्यक हैं।

वस्तु क्या है? बस, 'ॐ'। फिर चुप! और कुछ भी कहा नहीं जाता। इसलिए कहा है-'मूकास्वादनवत्'। जैसे 'गूँगेका गुड़ खाना।' आँखें खुलती हैं तो जबान बन्द होती है जो समझा वही समझा।

●

वेदान्तनिष्ठा

तत्त्व-उपलब्धिके लिए वेदान्तमें अनेक प्रक्रियाओंका वर्णन है। आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद आदि। जिसमें रुचि हो, उसमें

निष्ठा रहना बहुत जरूरी है। नहीं तो वस्तुलाभ नहीं होनेका। इससे कुछ, उससे कुछ; आज एक और कल दूसरा, इस प्रकार होनेपर कुछ भी नहीं होता। एकमें दृढ़ निष्ठा रहना बहुत आवश्यक है। बादमें अन्य प्रक्रियाओंके साथ समन्वय अपने आप ही हो जाता है।

'सूरजदास' नामके एक महात्मा थे। उनकी मृत्युके बाद उनके तीनों चेलोंने गद्दीके लिए दावा पेश किया। भक्तोंने तीनोंको गद्दीपर बिठा दिया। अब वहाँपर रोज सत्संग होता है। एक चेला कमरेमें, दूसरा बरामदेमें और तीसरा पेड़के नीचे बैठकर एक ही समय पर प्रवचन करते हैं। भक्तगण भी आकर कुछ समय पेड़के नीचेवालेके पास, कुछ समय बरामदेवालेके पास और अन्तमें कुछ लोग कमरेवाले–तीसरेके पास बैठकर प्रवचन सुनते हैं।

इस तरह तीनोंके पास बैठकर तीनोंको खुश रखनेका वे प्रयत्न करते हैं। इसका फल यह हुआ कि वे लोग एकका प्रवचन भी अच्छी तरह ग्रहण नहीं कर पाते। वेदान्तकी प्रक्रियाके बारेमें वैसा ही समझना।

●

नाक कटी

एक व्यक्ति हमेशा हर बातपर अपनी तारीफ करता रहता। दैवयोगसे एक दुर्घटनामें उसकी नाक कट गयी। तब वह नाक विहीन होकर यह कहने लगा–'अच्छा ही हुआ, परमात्माके दर्शनमें यही मेरा बाधक था। अब तो बला टल गयी। अतः सदा ही परमात्माके दर्शन होते रहेंगे। यह नाक ही तो परमार्थ–प्राप्तिमें प्रतिबन्ध थी। वह आफत टल गयी, अब तो हमेशा ही प्रभुके दर्शन करता रहूँगा।' किसी तरह वह न तो हठ छोड़ता न हार मानता।

इसी तरहके अनेक व्यक्ति हैं जो विचारमें सत्यको माननेके लिये

अन्ध तथा अनन्ध (दृष्टिमान्)

अन्धा कौन है और देखता कौन है? इसे सुनो। सत्य वस्तु तो मन-वाणीसे अतीत है। शब्दके द्वारा उसे प्रगट नहीं किया जा सकता। मन भी उसका मनन नहीं कर पाता। जैसा, 'गूँगा खाये गुड़'।

गूँगेने गुड़ खाया, उसकी मधुरताका मजा भी लिया, परन्तु वाणीका करण नहीं रहनेसे वह उसे प्रगट नहीं कर पाता। यह भी ऐसा है। सत्यके बारेमें जो जैसा कहता है, वह उसकी भावना-भर है। मानसिक क्रिया है, मिथ्या है।

जिनके गुरुने जैसा सिखाया, उनके संस्कार भी वैसे बने और सत्य वस्तुको तद्रूप ही माना (ग्रहण किया)। सत्यवस्तु भावातीत है। कोई कहते हैं—'एक', कोई कहते हैं—'दो' कोई 'सगुण', कोई 'निर्गुण'! किसी शब्द द्वारा तो उसे प्रगट नहीं किया जा सकता। इसलिए तो है 'नेति-नेति'!

कितने ही विकल्प क्यों न करो; सब कुछ 'नेति'। इसके परे जो है सो है। सुषुप्तिमें तुम तो हो, पर किस रूपमें, कैसे रहते हो? उसे किसी प्रकार व्यक्त नहीं कर सकते हो, चाहे हजार प्रयत्न करो! कारण, वाक्य द्वारा प्रकाश करनेके करणका वहाँ अभाव है। फिर भी तुम हो।

अपने 'स्वत्व'को जिस प्रकार कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, वस्तु-तत्त्वके बारेमें भी उसी प्रकार है! वहाँ,

न हम न तुम, दफ्तर गुम।

जब तक लोग तत्त्व समझानेके लिए कहना-सुनना और वाद-विवाद करते रहते हैं, समझना चाहिए कि तबतक किसीको तत्त्व-वस्तुकी खोज नहीं मिली। मिल जाने पर तो वे चुप हो जाते!

इसलिए सत्य वस्तु 'ऐसी-तैसी' आदि नाम-रूपोंको लेकर जबतक झगड़ा करते हैं, तब तक अन्धे हैं वे लोग और वस्तु-ज्ञान हो

जाने पर आँखें खुल जाती हैं तब उसे प्रगट करनेकी भाषा नहीं आती। जबान बन्द हो जाती है, इसलिए कवि कहते हैं—

बोलता है वह जो आँखोंसे अन्धा है।
आँखें खुलती हैं तो जबान बन्द होती है।

'गुरुग्रन्थसाहिब'में भी इसे सुन्दर ढंगसे कहा है—

जहाँ बोल तहाँ अक्खर आवा।
जहाँ अबोल तहाँ मन न रहावा।।
बोल-अबोल मध्य है सोई।
जस वह है तस लखा न कोई।।

अर्थात्—जहाँ बोलना-कहना है, वहीं अक्खर यानी शब्दका प्रकाश है। जहाँ बोलना-कहना नहीं है, वहाँ मन ही नहीं रहता। बोल माने शब्द-प्रयोग। अबोल माने शब्दाभाव। इन दोनोंमें वह है, परन्तु किस प्रकार है, यह कोई जान नहीं सकता।

तुम्हें कहता हूँ, रोज दृष्टि-सृष्टिके बारेमें विचार करो। इससे तत्त्वोपलब्धिके बारेमें बड़ी सहायता होगी। स्वप्नमें देखते हो कि कुम्हार घट बना रहा है। तो क्या वे सब तुमसे अलहदा हैं? कभी नहीं। तुम ही प्रत्येक रूप बनकर प्रतीत हो रहे हो! जाग्रतमें भी वैसा ही है।

तुम्हारी कल्पना है सबकुछ। तुम्हारे ही भिन्न-भिन्न रूप हैं वे सब! सब रूपोंमें तुम ही हो! इसका माने यह नहीं कि वस्तु अनेक और भिन्न-भिन्न हैं, और उन सबोंमें तुम अनुस्यूत हो। इसमें तो भेदबुद्धि आ जाती है।

जिस प्रकार स्वप्नमें तुम ही सबमें हो, अर्थात्—क्योंकि वे सब रूप तुम ही में अध्यस्त हैं, उसी प्रकार जाग्रतमें भी। इस विचारको पक्का करनेका प्रयास करते चलो। कल्पनासे ही कष्ट होता है।

एक व्यक्ति भूतमें विश्वास नहीं करता। दूसरेकी बातोंमें आकर वह एक अन्धेरी रातमें श्मशानमें एक पेड़में कील गाड़कर प्रेत देखने गया। अन्धकारमें कीलके साथ अपनी कमीजका एक किनारा भी सट गया था।

पूछा—'ऐ तुम कौन हो? साधु बनकर बड़े सैर कर रहे हो! कौन जाने, तुम चोर-डाकू हो या साधु? क्या ठिकाना? तुम कितनोंके सामान चोरी करके पोटलीमें बाँध करके भाग रहे हो कि नहीं? तुम साधु हो इसका क्या सबूत है? तुम्हें पुलिसके हवाले कर देंगे!'

साधुने देखा, बड़ी मुश्किल है। मैं अकेला हूँ! इसका मुकाबला नहीं कर सकता। नजदीकमें और कोई है भी नहीं। साधुने कहा—'अच्छा तुम्हीं बताओ, किस बातसे तुम्हें विश्वास होगा कि मैं साधु हूँ?'

चोर बोला—'इस पेड़ पर चढ़ जाओ तो जानूँ तुम साधु हो!'

चोरका मतलब साधु जान गया कि जैसे ही वह पोटली नीचे रखकर पेड़पर चढ़ेगा, तभी चोर उसे लेकर रफ्फूचक्कर हो जायगा। इसलिए साधुने पोटली कन्धेपर रख ली और पेड़पर चढ़ने लगा।

चोर बोला—'उस बोझको लेकर पेड़ पर क्यों चढ़ रहे हो? भाई, उतरनेके बाद तुम्हें तो वह मिल ही जायगी।'

साधु—'नहीं जी, यही सोचा कि पेड़ परसे यदि और कोई रास्ता दिखायी दिया तो उसी ओर चल दूँगा। कौन उतरे फिर पोटली लेने? इसीलिए पोटली लेकर चढ़ रहा हूँ।'

●

सुथरा सन्त

नानकपन्थियोंमें 'सुथरा सन्त' नामसे एक सम्प्रदाय है। वे लोग बाजा बजाते हैं और अपनी मस्तीमें चलते हैं।

चाहे कोई मरे, कोई जीए;
सुथरा सन्त गोल बतासा पीए।।

वे लोग किसीकी परवाह नहीं करते। एक सुथरा सन्त रोटी सेंकते हैं और साथ-ही-साथ खाते भी जा रहे हैं। खाते-खाते दूसरी रोटी सेंकते

भी जाते हैं। किसीने पूछा—'ऐसे क्यों खा रहे हो? रोटी सब तैयार करके एक साथ बैठकर क्यों नहीं खाते?'

उत्तरमें सुथरा सन्तने कहा—'सब बनानेके लिए बाद खानेको मिलेगा, इसका क्या ठिकाना? सब रोटी बनानेके बाद यदि मर गया तो एक भी रोटी खा नहीं सकूँगा। इसलिए बनाता हूँ और साथ-साथ खाता भी जा रहा हूँ।'

सुथरा सन्त कैसा होशियार है? कोई मरे या जिये, उससे उसको क्या? उनका गोल बतासा ठीक है अर्थात् उनके भोजनमें कोई हेरफेर नहीं। वे बहुत सयाने हैं।

●

नाटक तथा वेदान्त

नाटक ही वेदान्तकी असली नींव है। नट अभिनय करते हैं। कभी हँसते हैं तो कभी रोते हैं और कभी कुछ और ही रंग-तमाशा दिखाते हैं। इतना सुन्दर कमालका खेल दिखाते हैं कि लोग जो देखनेवाले हैं, बेसुध हो जाते हैं। परन्तु नट मन-ही-मन जानता है कि 'मेरा यह खेल मात्र बनावटी तमाशा-भर है। मैं तो फलाँ व्यक्ति हूँ।' इस तरहका भेदभाव रहे विना अभिनय हो ही नहीं सकता।

पतञ्जलिजीने सदाशिवसे नाटककी योग्यता प्राप्त करनेके बाद प्रार्थना की थी कि 'तत्त्वज्ञान हो।' नाटककी योग्यता अर्थात् जो कुछ भी अभिनय क्यों न करूँ, अपना स्वरूप न भूलूँ।

वेदान्तका भी यही तात्पर्य है। तुम कुछ भी व्यवहार क्यों न करो, स्व-स्वरूपको न भूलना। परमात्माका एक नाम नटराज भी है। वे संसाररूप नाटकके अभिनेता हैं। कुछ भी व्यवहार क्यों न करो, अपने स्वरूपमें स्थित रहो! वे ही सर्वरूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं।

संसार एक नाटक है। वह कभी सत्य नहीं होता। वह मिथ्या है।

तैयार नहीं हैं। विचारमें भी अपने दुष्ट पक्षका स्थापन करनेके लिये वे हठ करते हैं। अपने कमजोर पक्षको अनेक युक्तियों द्वारा सही साबित करनेकी चेष्टा करते हैं। इसीको 'दुष्ट विपर्ययी, दुराग्रही' कहते हैं। माने गलत तथा उल्टे विचारको सत्य प्रमाणित करनेका आग्रह।

'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना:।' मायाका खेल है। हर व्यक्ति अपने-अपने विचार तथा कल्पना लेकर बैठा है। जिसके गुरुने जैसा सिखाया। किसी तरह सत्यकी ओर नहीं बढ़ेंगे।

●

दिवानिद्रा

जब 'अटल अखाड़ा'में रहता था, अपनी आदतके अनुसार दोपहरमें थोड़ी देरके लिये सोता था। एक दिन एक सन्तने कहा कि 'महाराज! महात्माओंके लिये दिनमें सोनेका निषेध है।' मैंने कहा—'जिस जगह दिवानिद्राका निषेध लिखा है, वहाँ पढ़के देखना कि दिवानिद्राका तात्पर्य क्या है?'

'दिवा माने विद्या और निद्रा माने विस्मरण। अर्थात् विद्या यानी तत्त्वका विस्मरण ही 'दिवानिद्रा' है। साधुका उद्देश्य है, जो तत्त्वज्ञान है उसका कभी वह विस्मरण न होने दे। जागरण माने सदा उसे ध्यानमें रखना। उसकी विस्मृति ही निद्रा है। अतः दिवानिद्राका अर्थ है—'आत्मतत्त्वका विस्मरण।'

'उसकी स्मृति बनी रही तो 'दिवानिद्रा' नामसे कुछ बनता बिगड़ता नहीं।' इस व्याख्यासे वे सन्त बहुत प्रसन्न हुए।

सन्त यदि सदा निष्ठापूर्वक आत्मचिन्तन करता रहे, तो वह भले थोड़ी देर सो जाय या कुछ करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। आत्मचिन्तनमें कालाकाल क्या? वही तो मुख्य कर्तव्य है।

●

व्यसन

मैं रोज 'हरकी पैडी'के घाटपर घूमने जाया करता था। वहाँ एक साधुको रोज शतरंज खेलते हुए देखता। कुछ दिनके बाद उनसे पूछा कि 'इस समयका दुरुपयोग करनेका तात्पर्य क्या है? क्यों नहीं वेदान्तविचार करते?'

उन्होंने कहा—'महाराज! यह भी तो वेदान्त है। आप वेदान्त-विचारके द्वारा जगत्को भूल जानेका प्रयास करते हैं और मैं पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं सीखा। परन्तु इस तरह शतरंज खेलनेमें कुछ घण्टे जगत् विस्मृत हो जाता है।'

मैं बोला—'परन्तु वेदान्तविचारका अभ्यास श्रेष्ठ है। शतरंजका अभ्यास व्यसनगर ही है।'

'कुम्भ'के समय लोग मैदानमें जहाँ-तहाँ टट्टी करते हैं। यदि पूछा जाय कि 'कौन-सी टट्टी अच्छी है,' तो क्या जवाब देंगे? सब ही तो टट्टी है, सब ही तो हेय है।

'विद्या अभ्यास भी एक प्रकारका व्यसन है। पाण्डित्य-अर्जनके बाद यदि खण्डन-मण्डनमें मान-प्रतिष्ठाके लिए पड़े रहे तो? यदि तत्त्वनिष्ठा रही तो विद्याभ्यास व शतरंज खेलना, सब ही बराबर है।'

'विरक्त महात्मा-लोग एकबार ध्यानसे गुदड़ी सी लेते हैं, फिर उसे खोलकर सोते हैं। समय बीत गया। मनमें खराब विचार आनेका मौका नहीं मिला। मनको किसी बाह्य वस्तुमें लगाये रखना चाहिए। इससे भी एकाग्रता आ जाती है।

●

चालाक साधु तथा चोर

एक साधु बगलमें पोटली दबाये रास्तेमें जा रहा था। एक चोर उसके पीछे हो लिया और एक सूने स्थानमें पहुँचनेपर उसे पकड़कर

नहीं तो उसे नाटक ही नहीं कहा जा सकता। भक्तगण भी भगवान्‌को 'नटराज' नामसे पुकारते है। अतः वे लोग भी संसारको मिथ्या कहनेके लिए मजबूर हैं।

नाटकका अभिप्राय है, 'मिथ्या अभिनय'। अभिनेताको सदा यह बोध बना रहता है कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। यह सत्य नहीं है।

●

साँप और नेवला तथा वेदान्त

लोग साँप और नेवलाका खेल दिखाते हैं। नेवला साँपको काटता है। साँप भी नेवलाको काटता है। साँपके काटनेसे नेवला दौड़कर बाहर चला जाता है, फिर लौट आता है।

लोग कहते हैं–'बाहर जाकर नेवला जंगलमें कुछ जड़ी-बूटी सूँघकर आ जाता है। इससे साँपका जहर उतर जाता है।' मैं पढ़ाते समय यही दृष्टान्त कहता था। ज्ञानी नेवला जैसा है। व्यवहार कालमें किसीने ज्ञानीका अपमान कर दिया, अथवा विक्षेपके कारण कुछ भी हो गया, तो ज्ञानी भी उसी समय आत्मज्ञानरूपी बूटीका आघ्राण लेकर विक्षेपरूपी विषक्रियासे मुक्त हो जाता है।

जब कभी चित्त बहिर्मुख होनेसे अर्थात् विषयोंके सम्बन्धसे विक्षिप्त हो उठता है, तब ज्ञानी भी नेवलेकी तरह अन्तर्मुख होकर आत्मज्ञानरूपी बूटीका आश्रय लेता है। तब उस बूटीके प्रभावसे व्यवहारका बुरा असर नहीं रहता।

जब तक शरीर है, तबतक व्यवहार भी रहेगा एवं उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया भी रहेगी। चित्तमें विक्षेप भी होगा, क्योंकि चित्तका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु आत्मज्ञानरूपी बूटीके रहते क्या परवाह है? कोई भी जहर घायल नहीं कर सकेगा।

'मैं आत्मा हूँ। दृश्य प्रतीति-मात्र, मिथ्या है। एक मैं ही अनेक

दृश्य-रूपोंमें प्रतीत हो रहा है।' भ्रान्तिकालमें रज्जुमें सर्प देखनेमें आता है। रज्जुमें ही सर्प स्थित है तथा सर्पमें भी रज्जु, अनुस्यूत है। अर्थात् केवल रज्जुका ही सर्प रूपमें भान हो रहा है।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि

यही तात्पर्य है। अर्थात् उस एक ही 'गुण्डा-ठाकुर'का खेल है-यह सब कुछ। वे एक ही अनेक रूपोंमें प्रतीत हो रहे हैं। यही तो एक महानाटक है।

●

वेदान्तियोंकी मुहब्बत

वेदान्तियोंका प्यार किस तरहका होता है, जानते हो?

एक दृष्टान्त सुनो-

नट जब नाटक खेलते हैं, तब आप (नट) भी हँसते हैं-रोते हैं! देखनेवालोंको भी खेलके प्रभावसे हँसाते-रुलाते हैं। परन्तु हर क्षण वे जानते हैं कि यह अभिनय है। इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। स्वयं इस बातको कभी नहीं भूलते, अन्य वेश धारण-भर कर लेते हैं।

दूसरा दृष्टान्त सुनो-

वेश्या अपने आशिकको कितना प्यार दिखाती है! जैसे कितना अपनत्व है! लोगोंको इसी कारण झट् मोह लेती है। परन्तु वह मन-ही-मन जानती है कि यह तो मेरा मतलब-भरका यार है। जिस क्षण यह उसको और रुपया-पैसा नहीं दे सकेगा, उसी क्षण वह उससे मुँह फेर लेगी। पुराने जमानेमें राजनीतिकगण वेश्याओंके पास छल-कपट सीखनेके लिए जाया करते थे। 'मुखमें राम, बगलमें छुरी।'

तीसरा दृष्टान्त सुनो-

राजनीतिक लोग सिवाय छल-चातुरीके और कुछ नहीं जानते। सामने हो तब तो न जाने कितनी मित्रता दिखाते हैं, परन्तु मन-ही-मन

उसे मारनेका षड्यन्त्र रच रहे हों, ऐसा भी सम्भव है। राजनीतिमें एक-दूसरेका विश्वास नहीं करते। ऊपर-से तो अपनेको परम हितैषी सरीखे दिखाते हैं।

चौथा दृष्टान्त सुनो–

दुकानदार ग्राहकसे कितनी मीठी बातें करते हैं, जैसे अपना घाटा सहकर ग्राहकको सामान देते हैं। झूठमूठका बहाना और अपना हिसाव-किताब खूब समझ लेते हैं। ऊपरसे कितना भोलापन दिखाते हैं! कहते हैं–'यह सब तो आप ही का है!'

पाँचवाँ दृष्टान्त सुनो–

ठग तुमसे रास्तेमें ही मित्रता करेंगे। इतना अपनत्व दिखायेंगे कि तुम बेसुध हो जाओगे और किसी निर्जन स्थानमें ले जाकर, तुम्हें मारकर सबकुछ लूट लेंगे। वे जो प्यार दिखाते हैं वह क्या सत्य है? नहीं, वह छलना-भर है। उस समय भी वे अपने इरादेमें सचेत रहते हैं।

वेदान्तियोंके प्रेम-प्रीति और लोक व्यवहार ठीक ऐसे ही हैं। ऊपरसे तो कितना हर्ष-शोक-दर्द दिखायेंगे, पर अन्दर होते हैं एकदम शान्त! जैसे कुछ भी नहीं! सब रंग बाहरके। सदा आत्मनिष्ठ। व्यवहार कालमें भी वे जानते हैं कि "मैं इन सबसे परे हूँ, आत्मा हूँ; यह सब झूठ है।'

●

दाड़ी (दाढ़ी) या झाड़ी

एक वृद्ध महात्मा रोज एक ही रास्तेसे शहरमें भिक्षाके लिए जाया करते थे। उनके दाढ़ी थी। रास्तेके किनारे एक वेश्याका घर था। वह रोज छत परसे महात्माजीको देख पाती थी। वेश्याओंकी कुबुद्धि होती है। एक रोज वह दरवाजेमें खड़ी होकर महात्माजीसे पूछी–'यह आपकी दाढ़ी है या झाड़ी?'

झाड़ीका अर्थ है काँटे। महात्माजी जवाब दिये बिना चले गये। उस कुलटा पर धुन सवार थी। हठपूर्वक वह रोज यही सवाल पूछती। अन्तमें महात्माजीने एकरोज उसे बताया कि 'तुम्हारे सवालका जवाब और किसी दिन दूँगा।'

कुछ समयके बाद महात्माजीका अन्तकाल आ गया। पासमें बैठे भक्त-सेवकोंको सन्तजीने उस वेश्याको बुलानेके लिए कहा। सुनते ही वे भौंचक्के रह गये।

'क्या कहते हो सन्तजी? मरने के समय?' आखिर महात्माजीकी जिद्द होनेसे उस वेश्याको बुला ले आने पर उन्होंने उससे कहा–'बहुत दिन तक भिक्षाके लिए जाते समय रास्तेमें तू पूछती रही, 'यह मेरी दाढ़ी है या झाड़ी?' आज मैं जवाब दे रहा हूँ कि यह मेरी दाढ़ी है, झाड़ी नहीं। जिन्दगीमें कालिमा नहीं लगी। कालिमारहित जीवन लेकर ही आज इस दुनियासे विदा ले रहा हूँ। अपनी दाढ़ीकी इज्जत रखी है। यह मेरी दाढ़ी काँटे जैसी नहीं बनी।'

इस घटनासे यही शिक्षा मिलती है कि जिन्दगीमें कब कैसी दुर्बलता आ जाय, उसका क्या ठिकाना? अध्यात्म-मार्गमें कितनी शंकाएँ हैं। जिन्दगीमें सन्देहरूपी हवा आकर विश्वासरूपी दीयेको किस क्षण बुझा देगी, उसका क्या ठिकाना? इसलिए दृढ़ विश्वास एवं दृढ़ ज्ञानके लिए कमर कसकर प्रयत्न करना चाहिए।

●

तीन ठग तथा ब्राह्मणका बकरा

एक ब्राह्मण ने बाजारसे एक बकरा खरीदा और उसे कन्धेपर धरकर वह अपने गाँव लौट रहा था। तीन धोखेबाजोंने निश्चय किया कि ब्राह्मणको धोखा देकर इस बकरेको ले लेंगे और फिर उसे खायेंगे। वे उसके रास्तेपर एक-एक मीलकी दूरी पर बैठ गये।

पहला ठग जब ब्राह्मणको मिला तो व उससे कहने लगा—'अरे राम, राम! आप ब्राह्मण होकर एक कुत्तेको कन्धेपर धरकर जा रहे हैं?'

ब्राह्मणने हँसकर कहा—'तुम पागल हो रहे हो क्या? बकरेको कुत्ता कह रहे हो?'

चलते-चलते दूसरा ठग मिल गया और वह कहने लगा—'हे भगवान्, शिव-शिव! ब्राह्मण बलि चढ़ानेके लिए कंधेपर कुत्तेको धर कर चला जा रहा है।'

तब ब्राह्मणको कुछ शंका हुई। उसने बकरेको कन्धेपरसे उतारकर थोड़ा देख लिया और फिर चलने लगा।

चलते हुए तीसरा ठग भी मिल गया और कहने लगा—'गोविन्द, गोविन्द! हे हरि!! ब्राह्मण लोग कुत्तेको भी मारकर खानेमें कसर नहीं रखते। देखो तो सही! ब्राह्मण होके कुत्तेको कन्धेपर रखकर जा रहा है।'

अब ब्राह्मणके मनमें सन्देहने जोर पकड़ा। वह कहने लगा—'बकरीवालेने जरूर उसे धोखा दिया है। शायद किसी जादूके सहारे उसने एक कुत्तेको सिरपर थोप दिया है।' यह सोचकर उसने रास्तेपर बकरेको छोड़ दिया और घर चला गया। तब उन तीनों ठगोंने उस बकरेको पकड़ लिया और उसे मारकर खा गये।

देखो तो सही! ब्राह्मण बकरेको प्रत्यक्ष देख रहा है, फिर भी सन्देहने उसे घेर लिया। शंका कब कैसे आ जाती है, उसका कोई ठिकना नहीं! महावाक्यके द्वारा अपरोक्ष होनेपर भी यदि साधक-जिज्ञासु संशयग्रस्त हो जाय तो उसका अपरोक्ष ज्ञान अदृढ़ है, उसे अभी अप्राप्त है। यह 'मन्द ब्रह्मज्ञान' है।

सहजावस्था

एक कविता है-

हदमें चले सो मानवी (गृहस्थ),

बेहद चले सो साध (संन्यासी),

हद-बेहद माने नहीं,

ताकी मती अगाध!

अर्थात्-जो हद यानी किसी प्रंकार की गण्डी (नियन्त्रण) मानकर चलते हैं, ग्राह्यबुद्धिसे सांसारिक कर्त्तव्य करते हुए गृहस्थाश्रममें धर्मपालन करते हैं, वे साधारण मनुष्य हैं और जो तुच्छ बुद्धिसे सांसारिक गण्डी (नियन्त्रण)को तोड़कर, सारे कर्त्तव्योंका त्यागकर तत्त्वचिन्तनमें लग जाते हैं, वे सन्त हैं। वे बेहद हैं। जो सभी व्यवहारोंके परे, तीनों गुणोंसे जो अतीत हैं, उनका ज्ञान अत्यन्त गम्भीर है। यही सहजावस्था है।

ग्रन्थसाहबमें इसी बातको इस प्रकार कहा है-

जस है अस लखे न कोई।

जो परम वस्तु सदा विद्यमान है, उसे कोई देख नहीं पाता। यह तत्त्ववस्तु सभी व्यवहारोंके परे है। त्याज्यग्राह्यातीत माने गुणातीत अवस्था बड़ी दुर्लभ है। उस स्थितिमें भाषाका लेश भी नहीं है। उसे 'अद्वैत' भी कहा जा सकता।

द्वैतका निषेध करने लिए 'अद्वैत' कहना-भर है। नहीं तो उसे 'अद्वैत' भी कहा नहीं जा सकता। अद्वैतवादी द्वैतवादीको कहते हैं-'तुम 'द्वैत' कहना छोड़ दो और मैं भी 'अद्वैत' कहना छोड़ देता हूँ। 'अद्वैत' कहनेमें मुझे कोई आग्रह नहीं है। क्योंकि वस्तु द्वैत-अद्वैत दोनोंके परे है। तुम्हें चुप करनेके लिए ही मैं 'अद्वैत-अद्वैत' कहता हूँ। नहीं तो मुझे कुछ भी कहना आवश्यक नहीं है। शब्दोंके द्वारा वस्तुको तो प्रकट किया ही नहीं जा सकता।

●

मक्खन और सिद्धान्त

सदा-स्वयं प्रकाश-वस्तुको समझानेके लिए शास्त्रोंमें अनेक उपाय हैं। उसी तरीकेसे न समझानेसे प्रारम्भमें सामान्य लोग सिद्धान्तकी धारणा नहीं कर पाते। एक साधुके पास आकर एक आदमीने पूछा– 'महाराज! मक्खन क्या चीज है?'

साधुने सोचा, सीधा जवाब देनेसे उसको विश्वास नहीं होगा। इसलिए उन्होंने उसे आश्रमकी सेवामें लगाया। हर वर्षके अन्तमें वह पुनः-पुनः वही प्रश्न दोहराता रहा। तब साधुजीने उसे दूधसे दही जमानेकी और फिर दही मथकर मक्खन निकालनेकी सेवामें लगाया, उसका तरीका बताया।

मक्खन निकालनेका तरीका सुनकर वह व्यक्ति बोला– 'महाराजजी, यह तो बहुत आसान है! इस चीजको तो मैं पहलेसे ही जानता था। घरमें रोज यह निकालता था और अब भी मैं वही कर रहा हूँ! इसे आपने पहले क्यों नहीं बताया?'

साधु–'मैं पहले बता देता तो तुम्हें मेरी बातपर विश्वास न होता। इसलिए जब देखा कि मुझपर तेरी श्रद्धा हो गयी है, तब बताया।'

तत्त्ववाक्य तो बहुत सीधा (सरल) है। प्रारम्भमें बतानेसे शिष्यका विश्वास नहीं होता है। इसलिए पहले गुरु उपासना तथा सेवादि करा लेते हैं। श्रद्धाका उदय हो जानेपर उपदेश देते हैं। तब थोड़े शब्दोंमें ही काम हो जाता है।

●

अज्ञान-नाश तथा उसमें मतभेद

(1) विवरण-आचार्यके अनुसार तत्त्वज्ञानसे आवरणात्मक अज्ञानका नाश हो जाता है। परन्तु विक्षेपात्मक अज्ञानका शेष रह जाता है। उस अज्ञानके द्वारा ही ज्ञानियोंका व्यवहार होता रहता है। और, प्रारब्ध-भोगान्तमें इस अज्ञानका भी ध्वंस हो जाता है।

(2) अन्य मतमें तत्त्वज्ञान हो जाने पर अज्ञान समुदायका बाध हो जाता है और बाधित वृत्तिके द्वारा ज्ञानियोंका व्यवहार होता है।

(3) अन्य किसी-किसी मतमें तत्त्वज्ञानसे अज्ञानका समूल नाश हो जाता है। जिस प्रकार छिन्न-मूल-वृक्ष कुछ काल तक हरा रहनेके बाद सूख जाता है, उसी प्रकार ज्ञानीके शरीर व व्यवहार कुछ समय तक चलते हैं। उसे नष्ट करनेके लिए अन्य किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं होती।

(4) ऊपर कीन्हीं-कीन्हींके अनुसार तत्त्वज्ञान हुआ कि साथ ही साथ कार्यसहित अज्ञान-समुदायका नाश हो जाता है। इनके विचारसे सद्योमुक्ति अर्थात् ज्ञान-समकाल ही देहका भी नाश हो जाता है।

●

अर्थबुद्धिका त्याग

अर्थबुद्धिका त्याग यानी अर्थाध्यासका त्याग। अर्थबुद्धिका त्याग कर देनेसे केवल रह जाता है भान-मात्र जगत्। उससे मनका विनोद ही होता है। जगत्में सत्यत्व ही सब दुःखोंका कारण है।

एकान्तमें निदिध्यासन? बेकार! क्योंकि आँखें खोलते ही विषयोंके सान्निध्यमें आते ही फिर वही विक्षेप, फिर वही दुःख!

विचारके साथ निदिध्यासन ही असली वस्तु है। 'अटल अखाड़ा'में सोलह वर्ष रहे। तब खूब भजन किया। जगत्में सत्यबुद्धिका त्याग ही असली निदिध्यासन है। सत्यबुद्धि न रहनेसे विक्षेप कहाँ होगा? अहंबुद्धिको भी त्यागना होगा।

स्वरूपमें वास्तवमें 'मैं', 'तुम' कुछ भी नहीं। अद्वैतको छोड़कर कहाँ जायँ? कहीं जगह भी तो नहीं है जानेको। अतः द्वैत है ही नहीं, अर्थबुद्धि जैसी सत्यबुद्धिका त्याग ही द्वैतके प्रभावसे बचनेका उपाय है। तब मिथ्या प्रतीति-भर द्वैतका तमाशा देखकर आनन्द होता है। किसी प्रकारका दुःख या विक्षेप नहीं हो सकता। जिस प्रकार मायावीकी मायाका खेल देखनेमें मनोरंजन होता है, किसी प्रकारका विक्षेप या दुःख नहीं होता! ●

सब कुछ ठीक है

प्रश्न—'कैसे हैं स्वामीजी?'

उत्तर—अच्छा है; सब ही ठीक! जैसा रहना चाहिए, उसी प्रकार सब ठीक है। शरीर भी जैसा रहना चाहिए वैसा ठीक है। इसका अर्थ क्या? जानते हो?

'संसारमें जो होना है, सो होकर ही रहेगा। इसलिए शरीरका रोग कहो या और कुछ कहो, जैसा सब होनेका है, वैसा हुआ और होगा भी। मैं या और कोई इच्छा करे तो बदला नहीं जा सकता। मेरी चाहके अनुसार तो होगा नहीं। इसलिए मेरी जो चाह है, सो ठीक नहीं। जो होना है उसीको ठीक कहना चाहिए। अतः मायाके जगत्में जो कुछ घट रहा है। सब ठीक है।

मायायां का चमत्कृतिः?

यदि कोई चाहे या कहे कि 'ऐसा हो' तो वह बेठीक है। परन्तु जो जैसा हो रहा है, वही ठीक है। यह सब कुछ मायाका खेल है, यही असली बात है। यही वेदान्तकी बात है।

फिर देखो, भक्ति-दर्शनमें भी यही एक बात है। बातोंका हेरफेर-भर है। वे कहते हैं, 'अच्छा-बुरा सब कुछ ही भगवान्‌की देन है।' सब कुछ सहर्ष लेना होगा। इसलिए जो कुछ भी क्यों न हो, सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, सब ठीक है। क्योंकि सब कुछ भगवान्‌की देन है।

मेरे कहनेसे तो सृष्टि बदलेगी नहीं। वे ही अच्छी तरह जानते हैं, 'मेरा किससे कल्याण होगा?' इसलिए अच्छा बुरा जो कुछ है, सब उनकी देन है। सब ही ठीक। मेरी कुछ भी चाहना बेठीक है।

●

यह संसार जादू-घर है

जादूघर देखा है? मैं पढ़ाते समय यही दृष्टान्त कहता था। लोग वहाँ अनेक वस्तु देखने जाते हैं। दीवारपर लिखा रहता है—'किसी चीजपर

हाथ न देना'। यानी, केवल देखते चलो! आवेशमें आकर किसी वस्तुपर हाथ न देना। हाथ लगाने पर, वहाँ जो पहरेदार रहता है, वह तुम्हें बाहर निकाल देगा। तुम चीजपर हाथ देकर मुसीबत बुला लाओगे (झगड़ा मोल लोगे)।

इसी प्रकार यह जगत् भी एक प्रकारका जादू-घर है। यों कहें कि बिना टिकटका सिनेमा है। यह नुमाइश केवल देखनेके लिए है। द्रष्टा बनकर देखते चलो! किसीमें हाथ न देना, अर्थात् किसीके प्रति आकृष्ट होकर यह नहीं कहना कि 'यह अच्छा है, यह बुरा है, यह ऐसा होना चाहिए, वह ठीक नहीं हुआ, आदि। नहीं तो फिजूल झगड़ा आ पड़ेगा। बन्धनमें आकर डूबना पड़ेगा।'

द्रष्टा बनो, किन्तु किसीके प्रति आकृष्ट मत होना। नहीं तो चौकीदार तुम्हें बाहर ढकेल देगा। तुम नुमाइशका मजा नहीं ले सकोगे। संसार दरियामें डूब जाओगे।

अर्थबुद्धि रहनेसे ही आसक्ति एवं दुःख अनिवार्य हैं। अर्थ-बुद्धिके न रहनेसे केवल बिना सत्ताके प्रतीति-भर है; वह मनोविनोद, आनन्दका निमित्तमात्र रह जाता है।

विदुषस्य आनन्दमयं, अज्ञस्य दुःखमयं जगत्।'

●

कवि बिहारीदास

हिन्दीमें बिहारीदासजीकी कविता तथा दोहा प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि देशके राजाके साथ बिहारीदासजीका प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध था। राजा भी विद्याप्रेमी थे।

किसी एक समय राजा एक अनोखी सुन्दरी किशोर बालिकाको देखकर बावला हो गये और उसे लेकर उद्यानवाटिकामें रहने लगे। राजाने राजकाज मन्त्रियोंपर छोड़कर हुकुम दिया कि 'कोई भी बगीचेमें न आये। जो कोई आवेगा, उसका सिर काट दिया जायगा।'

यह खबर सुनकर दूसरे राजाने देशपर चढ़ाई कर दी। अब क्या किया जाय? राजाको समाचार कौन दे? मन्त्री-परिषद् में बिहारीदासजी भी थे। उपाय पूछनेपर वे बोले—एक उपाय है। एक दोहा मैं कागजपर लिख दूँगा। किसी प्रकार उसे यदि बगीचेके अन्दर डाल दिया जा सके, तो बाकी मैं हासिल कर लूँगा।'

यह सुनकर सब राजी हो गये। बिहारीदासजीका लिखा हुआ दोहा किसी तरह राजाके बगीचेमें डाल दिया गया। टहलते हुए राजाने वह कागज देखा तो उठाया और पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास नहिं काल।
अलि कलि ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल?

हस्ताक्षर देखकर ही राजा पहचान गये कि यह तो कवि बिहारीदासका लिखा हुआ है। राजाने उन्हें बुलाकर इस दोहेका आशय पूछा और उद्यान वाटिकामें यह कैसे आगया, यह भी प्रश्न किया।

जवाबमें कविने कहा—'मैं कवि हूँ। रद्दीके टुकड़ोंपर कितनी-सारी कविताएँ लिखता रहता हूँ। मैं क्या जानूँ कि चिड़िया उठाके गिरा गयी या हवासे उड़कर यह टुकड़ा यहाँ आ गिरा? न मालूम, कैसे आपके बगीचेमें यह आगया? परन्तु हाँ, यह मेरी लिखी हुई कविता है।'

बुद्धिमान राजा समझ गये कि इसमें कुछ रहस्य है। दोहेका अर्थ पूछने पर कविने बताया—'मैं एक दिन जब बगीचेमें बैठा था तो देखा कि एक अलि (भ्रमर) बिना खिले फूलपर गुनगुनाता हुआ मँडरा रहा था, और मेरे शब्दोंमें यह दोहा निकल पड़ा। इसका अर्थ इस प्रकार है—

'हे अलि! अभीतक सुगन्धि पराग तो बना नहीं और सुमधुर मधु भी इसमें नहीं है; फूल खिला भी नहीं है! फिर भी तुम इस फूलकी कलीपर बावले हो रहे हो? आगे फूल खिलनेपर तुम्हारी क्या दशा होगी?'

राजाने यह सुना और बोले—'हाँ, ठीक है। इसका और भी कोई अर्थ है?'

कवि–'हाँ, है। सुनिये–अलि माने जीव। दोहेका तात्पर्य है–'हे जीव! तू प्रयागराज (पराग) नहीं गया? न मधुपुरी (मथुरा) गया? सुन्दर मथुरा नगरीका तूने दर्शन नहीं किया! न तो तूने काशी (वि–काश) की यात्रा की! न महाकालेश्वर उज्जैन गया किसी भी तीर्थका सेवन नहीं किया! कलिकाल (कलि)के रूप–रसादि विषयोंमें ही मोहित होकर रह गया? आगे तुम्हारी क्या गति होगी?'

इस उत्तरसे राजा प्रसन्न होकर बोले–'इसका और भी कई अर्थ है?' तब कविने राजाकी प्रसन्न मुद्रा देखकर बताया–'हाँ, राजन्! सुनिये जहाँपहनाह! आप ही अलि हैं। एक किशोरी बालिका, जिसमें अभी दैहिक सौन्दर्य व कान्तिका विकास ही नहीं हो पाया है, ऐसी एक बिना खिली कलिपर आप आसक्त हो गये हैं। अब आगे आपकी क्या गति होगी? राजन्! आप और भी सुन लीजिये! आप राजकाज नहीं देखते हैं, यह जानकर दूसरे शत्रु–राजाने हमारे राज्यपर चढ़ाई कर दी है। अब क्या उपाय करें? आपको समाचार देनेका और कोई उपाय भी न था। सबके परामर्शसे विद्यारसिक आपकी नजरमें किसी तरह यह दोहा आजाय इस उद्देश्यसे मैंने ही इस कागजको बगीचेमें डाल दिया था। हे स्वामी, पहले राजकाज सँभालिये! नहीं तो आपकी क्या दशा होगी?'

तब राजा सावधान हो गये। अपनी सेनाके साथ स्वयं हाथमें तलवार लेकर युद्ध करने गये और दुश्मनको हरा दिया।

बिहारीदासजीकी कवितामें लालित्यके साथ–साथ अर्थ गाम्भीर्य भी है।

●

सर्वभूतहिते रताः

'गीता'में है–'सर्वभूतहिते रताः'। यानी ज्ञानी प्राणीमात्रके हितमें रत रहते हैं। वे लोगोंकी भलाईके लिए कार्य करते हैं। ज्ञानीका कर्म उनके अपने लिए नहीं है, दूसरेकी भलाईके लिए है।

इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है—'ज्ञानीकी दृष्टिमें सिवाय आत्माके अन्य वस्तु है ही नहीं। इसलिए वह किसकी भलाई करे? अतः 'सर्वभूतहिते रताः'का अर्थ है—'सभी भूतोंका हित, कल्याणरूप और सुखस्वरूप जो है सो आत्मा ही है और उस आत्मामें ही रत रहता है। अर्थात् ज्ञानी सदा आत्मरत व आत्मनिष्ठ रहता है। उसकी दृष्टिमें अन्य प्राणी, अपर नाम या और कुछ है ही नहीं। इस कारण 'ज्ञानी लोककल्याण करते हैं'—यह सब दूसरोंकी कल्पना है। ●

परदुःखवेदन

एकका दुःख दूसरा किस तरह जान सकेगा? देखो न, एक तो शेषनाग पृथ्वीके गुरुभारसे क्लान्त है। तिसपर विष्णु भगवान्ने आकर उसपर आसन जमाया!

श्रीमान्—धनी लोग दूसरोंके दुःख नहीं समझते—

लक्ष्मीवन्तो न जानन्ति, किमपि परवेदनम्।
शेषे धराभारक्लान्ते, शेते नारायणो हरिः।।

●

सारतत्त्व

आज असली तत्त्व तुम्हें सुनाऊँगा। श्लोक रचा है—

जो कुछ कहा-सुना, वह गप है,
श्रोता-वक्ता एकांशिकता है।
इन दोनों में जो अनुगत है,
वही तत्त्व सत् का भी सत् है।।

अर्थात् शास्त्र-समुदायने जो कुछ कहा है, और जीव-समुदायने जो कुछ सुना है, सब ही स्वरूपतः मिथ्या है। एकांशमें मिथ्या है। श्रोता तथा वक्तामें अनुगत जो अधिष्ठान है, वही 'सत्यस्य सत्यम् प्राणो वै सत्यम्, तेषामेष सत्यम्।' ●

याचना तथा काक

माँगना बहुत नीच वृत्ति है, वह मनुष्यको छोटा तथा हीन-बुद्धि बना देता है। इसलिए शास्त्रने 'अपरिग्रह'-साधन पर इतना जोर दिया है। माँगनेवाला हुआ नहीं कि मनुष्यका सिर नीचा हो गया। इसमें उसमें हीनता, नीचता, ईर्ष्या, विद्वेष, डाह, पराधीनता आदि-आदि अनेक अवगुण आ जाते हैं।

एक माँगनेवाला दूसरे माँगनेवालेको नहीं चाहता। देनेवालेका दान वह अकेले ही सब-का-सब ले लेना चाहता है। यदि और कोई माँगनेवाला नहीं आया तो मन-ही-मन खुश होता है। ऐसे याचक मनुष्यकी अपेक्षा कौआ कहीं अच्छा है।

अन्नके कुछ दाने बिखेर देने पर एक कौआ 'काँव-काँव' करके अन्य कौओंको भी बुला लेता है। सब मिलकर दाने चुगते हैं। वे आपसमें लड़ाई-झगड़ा नहीं करते। परन्तु याचक मनुष्यकी क्या दशा है?

उसमें हिंसा-विद्वेष कूट-कूटके भरा पड़ा है। दूसरेकी सुख-सुविधा उसकी आँखोंकी किरकिरी बन जाती है। इसलिए कविने कहा है-

काक तथा याचकमें काक श्रेष्ठ है, याचक नहीं। क्योंकि, काक-महानुभाव अन्य कौओंको बुला लेता है, परन्तु एक याचक दूसरे याचकोंको नहीं बुलाता-

काकयाचकयोर्मध्ये वरं काको न याचकः।
काक आलापते काकान् याचको न तु याचकान् ।।

याचकको डर है, कहीं दूसरा याचक आ गया तो 'मेरे हिस्सेमें घाटा पड़ जायगा।'

•

वसन्तमें करणीय

एक श्लोकमें कहा है–

वसन्ते भ्रमणम् पथ्यं अथवा वह्नि-सेवनम्।
अथवा युवती नारी अथवा निम्ब-सेवनम्।।

इसका क्या अर्थ है? साधारणतः लोगोंको वसन्त ऋतुमें भ्रमण, अग्नि-सेवन, स्त्री-सहवास तथा निम्ब सेवन करना चाहिए, ऐसा अर्थ लगाते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। इसका अर्थ सुनो–

'वसन्तऋतुमें साधु भ्रमण करें; महात्मा लोग, परिव्राजक भ्रमणमें आनन्द मनाते हैं। वसन्तमें भ्रमण करनेमें सुविधा भी अधिक है।

वानप्रस्थी इस समय अपनी हवनादि क्रिया बेफिक्र होकर अच्छी तरहसे करें।

वसन्तमें सम्पूर्ण प्रकृति सतेज हो उठती है। मानो सर्वत्र चहल-पहल मच जाती है। कामुककी कामवासना भी प्रबल हो उठती है। इसलिए गृहस्थके लिए वसन्तऋतुमें स्त्री-सहवासका विधान है।

ब्रह्मचारी कामका दमन एवं वीर्य-रोधके लिए नीम खाते हैं। प्रसिद्ध है, नीमका रस कामवृत्तिका उपाशम है।

●

प्रणाम तथा श्रद्धा

प्रणामका अर्थ है नम्रता। किसी भी पूज्य, श्रेष्ठ और ज्ञानी व्यक्तिके प्रति विनम्र होकर प्रणाम करना चाहिए। किसीके प्रति श्रद्धा व उसके उपदेशमें आस्था हुए बिना वास्तविक विनम्रता या प्रणाम सम्भव नहीं है।

मनमें श्रद्धा न हो और केवल ऊपरसे हाथ जोड़कर 'ओम् नमो नारायणाय' कह देना यथार्थ प्रणाम नहीं है। हार्दिक श्रद्धा हो तो ऊपरसे 'ओम् नमो नारायणाय' कहे बिना और हाथ जोड़े बिना भी मन-ही-मन प्रणाम किये जा सकते हैं।

जिसके प्रति श्रद्धा होती है, उसके उपदेश पर विश्वास होता है तथा उसके आदेशपर लोग चलते भी हैं।

गुरुजीकी पीठमें एक तरहका दर्द हुआ। गुरुजीने शिष्यको कहा–'मेरी पीठपर चढ़कर पैरसे मसल दो तो मुझे आराम मिलेगा।'

यह सुनकर शिष्य हाथ जोड़कर कहने लगा–'गुरुजी यह सेवा मुझसे नहीं हो सकती। और जो कुछ सेवा हो, उसके लिए आज्ञा दीजिये, वह सब मैं करूँगा। परन्तु आपके शरीरपर पैर नहीं रख सकता।'

गुरुजीने जितनी बार शिष्यको पैरसे अपनी पीठ दबानेके लिए कहा, शिष्यने प्रत्येक बार इसके लिए इन्कार कर दिया। अन्तमें गुरुजीने कहा–'ऊपरसे तो बहुत श्रद्धा दिखा रहे हो! परन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे तुम मान नहीं रहे हो!'

यथार्थ श्रद्धा आ जानेपर शिष्य बिना सोचे गुरुजीके आदेशका पालन किये बिना रह नहीं सकता। गुरुजी तो शिष्यका अहित नहीं करेंगे। परन्तु ऐसी यथार्थ श्रद्धा कितने लोगोंको होती है?

●

पुत्रवधूकी गुरुसेवा

घरमें गुरुजी आनेपर सास नहा-धोकर शुद्धाचारसे भोजन पकाकर गुरुजीको भोजन कराती है। गुरुजी खाते हैं तब वह पंखा झलती रहती है। बहूजीने यह सब कई बार देखा है।

गुरुजी अक्सर गरमीमें ही आते हैं। एक-बार ठण्डीके समय सासजी कहीं गयी थीं। जाते समय बार-बार बहूको कह गयी थीं–'यदि गुरुजी आ जायँ तो उनकी सेवा अच्छी तरहसे करना।'

बहू बोली–'हाँ, माताजी! मैं जानती हूँ, आप किस तरह गुरुजीकी सेवा करती हैं। मैंने देखा है। आप बेफिकर रहें। मैं अच्छी तरहसे सेवा करूँगी।'

माघकी ठंडमें एकदिन गुरुजी आ पहुँचे। बहूजीने गुरुजीको पाद्य-आसनादि देकर अभ्यर्थना की एवं चौका लगाकर बढ़िया रसोई बनायी। गुरुजीको खिलानेके लिए आसनपर बिठाया। गुरुजीने भोजन करना प्रारम्भ किया कि बहुजीने बड़ा पंखा लिया और जोरसे झलने लगी।

गुरुजी बोले—'इतनी ठण्डीमें हवा नहीं चाहिए'। गुरुजीने कितनी बार मना किया, किन्तु बहूजी सुने तब न? वह कहने लगी—'नहीं गुरुजी, मैं सेवा करूँगी ही। सासजी कह गयीं हैं। वे जैसी सेवा करती हैं, मैं भी वैसी ही सेवा करूँगी।' अब बताओ, क्या इसका नाम श्रद्धा है?

●

नटवर श्रीकृष्ण

श्रीकृष्णको 'नटवर' क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि श्रीकृष्ण चन्द्रवंशी हैं। चन्द्रवंशियोंके पुरखे गन्धर्व थे। नृत्य-गीत-विशारद गन्धर्वोंमें श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ रहे, बड़े निपुण! इसलिए वे 'नटवर' हैं। इसी हेतु उनके हाथमें बाँसुरी भी है।

उनके सिरपर मोर पंख क्यों? इसलिए कि चन्द्रकी उत्पत्ति 'अत्रि' नामक गन्धर्वकी आँखोंसे हुई। मोरकी उत्पत्ति भी सर्व-साधारण प्राणीकी तरह मैथुन-क्रिया द्वारा नहीं होती। नाचते समय मोरकी आँखोंसे वीर्य जमीनपर गिरता है। मोरनी उसे खाकर गर्भवती होती है। फिर समयपर अण्डा देती है।

श्रीकृष्णके पुरखोंके आदि-पुरुष चन्द्रकी उत्पत्ति 'अत्रि' की आँखोंसे है, इसके स्मारक रूपमें श्रीकृष्ण अपने सिरपर मोर पंख लगाते हैं। क्योंकि मोरकी उत्पत्ति भी आँखोंसे गिरे वीर्यसे होती है। सिरपर मोर पंख लगाना केवल शोभाके लिए नहीं है। यही है पौराणिक रहस्य।

●

एक ही ज्योति

एक चैतन्य ज्योतिमें ही इस विचित्र मायासक्तिका विलास हो रहा है। सर्व वस्तुमें एक ही सत्ता है। किसी सिन्धी सूफी महात्माका एक टुक सुनो–

पीणल ये जो परमेश्वर, बबूल में को बिओ।
मन्दिर और मसजिद में रोशन एक ही डिओ।।

अर्थात्–पीपल या अश्वत्थमें जो एक परमात्मा विद्यमान है, बबूलमें क्या कोई दूसरा है? सिन्धी भाषामें 'बिओ' माने होता है– 'पृथक्'। 'रोशन' माने प्रकाश। 'डिओ' माने प्रदीप। मन्दिर तथा मसजिद एक ही प्रदीपके प्रकाशसे प्रकाशित है।

तात्पर्य–सर्वत्र एक ही परमात्मा विद्यमान है। भ्रान्तिके कारण ही लोग भेदकी कल्पना करते हैं। प्रकाशमें कोई भिन्नता है क्या?

●

स्वप्नका मन

स्वप्नकी सभी वस्तुएँ, इन्द्रियाँ तथा मन भी प्रातिभासिक हैं। स्वप्नमें मन व्यावहारिक होनेपर उससे प्रातिभासिक पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। जाग्रतका मन व्यावहारिक होनेके कारण, उससे प्रातिभासिक पदार्थका ज्ञान होता है। जाग्रतके प्रातिभासिक रज्जु–सर्पादि पदार्थका ज्ञान व्यावहारिक मनसे नहीं होता। साक्षीभास्य इन्द्रिय वृत्ति द्वारा वह ज्ञान नहीं होता। अज्ञान–वृत्ति द्वारा ही वह ज्ञान होता है एवं वह साक्षीभास्य है।

सभी दार्शनिकोंके विचारमें निम्न सात पदार्थोंके तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता। वह अनिर्णित है–

(१) स्वप्न, (२) विम्ब–प्रतिबिम्ब, (३) तमः, (४) काल, (५) मन, (६) आकाश तथा (७) इन्द्रियाँ। ये सब अनिर्णित हैं। यह 'तीन सत्तावाद'की बात हैं। द्विविध सत्तावादमें घट–पटादि समुदाय–वस्तु अनिर्णित है।

'द्विविध सत्तावाद'को सब दार्शनिक नहीं मानते। परन्तु 'तीन सत्तावाद'में भी उपर्युक्त पदार्थोंके स्वरूपका कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता।

दृष्टि-सृष्टिवादके अनुसार सब कुछ प्रातिभासिक है—जाग्रत-स्वप्न, सब कुछ। कोई भी ज्ञान मन एवं इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता। अज्ञान-वृत्तिके द्वारा साक्षी सब कुछ प्रकाशित करता है। सब कुछ साक्षीभास्य है।

विषय, मन, इन्द्रियाँ सब कुछ ज्ञानके साथ ही साथ उत्पन्न होनेके कारण कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं हो सकता। दृष्टिसृष्टिवादके अनुसार मनको भी प्रातिभासिक कहा गया है।

'तीन सत्तावान'के अनुसार मन, इन्द्रियाँ, स्थूल-सूक्ष्म-कारण-तीनों शरीर तथा विश्व-तैजस्-प्राज्ञ सब ही व्यावहारिक होता है। जाग्रतमें मन तथा इन्द्रियोंके द्वारा व्यावहारिक होता है। स्वप्नमें इन्द्रिय-समुदाय व्यवहारसे उपरत होनेपर भी रहते हैं, लीन नहीं होते। सुषुप्तिमें ही लीन हो जाते हैं। स्वप्नमें मन ही विषयाकारमें परिणत होता है, परन्तु विषय-ज्ञानका कारण नहीं होता। क्योंकि विषय तथा विषयी एक ही कालमें एक वस्तुका न होना सम्भव नहीं। अज्ञान-वृत्तिकी सहायतासे साक्षी स्वप्न-पदार्थका प्रकाश करता है। वहाँ मन व इन्द्रियोंका कारयिता नहीं रहता।

अतः करणावच्छिन्न (साक्षी) तैजस्के रूपमें उन विषयोंसे सुख-दुःखका अनुभव होता रहता है। स्वप्नके प्रातिभासिक शरीर वे दृश्य वर्गका अधिकरण सूक्ष्म देह है। भोगाधिकरणमें अभिमान हुए विना तैजस्का भोक्तृत्व नहीं हो सकता। इसलिए स्वप्न-कालमें तैजस्को सूक्ष्म-देहाभिमानी कहा गया है। वस्तुतः स्वप्नानुभूति केवल साक्षी-स्वरूप है।

●

पारिशेष्य-न्याय

अन्य समुदाय वस्तुका परिहार हो जानेपर जब जो बाधित वस्तु शेष रह जाती है, तब उसे 'पारिशेष्य न्याय' कहते हैं। दृष्टान्त :

कुएँसे पानी लेनेके लिए सबने वहाँ अपना-अपना घड़ा रख दिया है। मैंने भी रखा। फिर मेरावाला घड़ा मैं पहचान न पाया, तब मैंने सबको कहा-'भाइयों! आप सब अपना-अपना घड़ा ले लीजिये। मैं अपना घड़ा इस लाठीसे फोड़ूंगा।'

यह सुनकर सब डर गये और उन्होंने अपना घड़ा ले लिया। तब मेरावाला घड़ा ही वहाँ पड़ा रह गया।

●

शरीर : बुदबुद

मैं (धीरेशानन्द पुरी)ने कहा-'स्वामीजी! आपका स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा है। कोई बीमारी है क्या?'

शंकरानन्दजी-'पानीका बुलबुला देखा है न! शरीर भी ठीक उसी प्रकार है। बुलबुलेमें-जिसमें हवा कम है, वह छोटा बुलबुला है और जिसमें ज्यादा हवा है, वह बड़ा होता है। जिस प्रकार बुलबुला फट जाता है, उसी प्रकार शरीरका भी नाश होता है। शरीर पानीके बुलबुलेकी तरह है। मोटा भी होता है, फिर पतला भी हो जाता है।'

●

गन्तव्य या निशानी

किसी घरकी पहचानके लिए यदि दूरसे उसके ऊपरकी जो निशानी होती है वह दिखा दी जाय तो वहाँ तक पहुँचनेका रास्ता न दिखानेपर भी काम चल सकता है। क्योंकि तुम जानते ही हो कि किस मकानमें तुम्हें जाना है; तो जिधरसे भी हो, तुम रास्ता ढूँढ़ निकालोगे।

सभी रास्ते तुम्हारे पैरके नीचे हैं। ठीक उसी प्रकार यदि किसी तरहसे अपने उद्देश्यका एक बार निश्चय हो जाय तो शास्त्रके अनेक वादविवाद, तर्क तथा विपरीत प्रक्रियाके विरोधसे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। सबका समन्वय हो जाता है।

●

बीरबल तथा मूर्ख

अकबर बादशाहने एक रोज बीरबलको अपने पिताको दरबारमें ले आनेके लिए कहा। बीरबलके पिता रहे मूर्ख! क्या कहते? कोई पूछे, कुछ और वह कह देते कुछ! इसलिए बीरबलने अपने पितासे कहा-'बादशाह चाहे कुछ भी कहे, आप एकदम चुप रहना। जबान न खुले!'

पिताने वैसा ही किया। 'बीरबलके पिता हैं', यह जानकर बादशाहने उनकी बहुत अच्छी तरहसे आवभगत की। उन्होंने बहुत सारी बातें कीं, किन्तु पिता एकदम चुप! कोई जवाब नहीं दिया। तब बादशाह तंग आ गये और पिताको विदाकर दिया।

फिर अकबरने बीरबलसे पूछा-'बीरबल! मूर्खोंसे किस तरह पेश आना चाहिए? क्या हरकतें करनी चाहिए?'

बादशाह जान गये थे कि बीरबलके पिता एक मूर्ख ही निकले। उत्तरमें बीरबलने कहा-'मूर्खोंसे मिलनेपर चुप रहना ही बेहतर है।'

इस उत्तरसे बादशाहकी अकल ठिकाने आ गयी। इस उत्तरके दो तरहके अर्थ हो सकते हैं। एक वह जो अभी बताया गया। दूसरा अर्थ यह कि बादशाह एक मूर्ख है, क्योंकि उनसे मिलते ही बीरबलका पिता चुप्पी साध गया। उत्तर सुनकर दरबारमें सब खुश हुए।

●

शरीरका धर्म

प्रश्न—(धीरेशानन्दपुरीने)—'कैसे आप स्वामीजी?'

उत्तर—जैसा रहना चाहिए वैसा ही है। शरीरका जैसा धर्म है, वैसा ही वह तो रहेगा! इसमें सोचनेका क्या है? कभी अच्छा तो कभी खराब! यही तो शरीरका धर्म है। अतः इस बारेमें न तो कुछ सोचनेका है और न कुछ करनेका। स्वस्वरूपमें आत्मनिष्ठ होकर रहना ही तो बहादुरी है। सांसारिक व्यवहार, शरीरका व्यवहार, यह सब नाटकके खेल जैसा ही तो है।

'क्या नाटक नहीं देखा? वह तुम्हें क्या खेल दिखायेगा, इसका पता नहीं है। पर्दा खींचते ही सामने एक दृश्य देखनेमें आया। यदि अच्छा रहा, तो भी तुम्हें देखना होगा और यदि कुछ विषादमय रहा, तो भी तुम्हें देखना होगा। तुम्हारे वशमें कुछ नहीं है। तुम्हें देखते जाना ही होगा।

इसी प्रकार प्रारब्ध-कर्मका फल भोगना है। शरीरका कब क्या भोग आना है, पता नहीं। इसलिए दृष्टा बनकर देखते जाना होगा। शरीर अपने धर्मानुसार चलेगा। इसलिए कहा, 'जैसा रहना चाहिए, वैसा है।'

●

पण्डितोंका नमूना (बहादुरी)

एक पण्डित पैदल अपने देश जा रहे थे। एक गाँवमें-से होकर रास्ता भी था। गरमीके दिन थे। पण्डितको प्यास लगी। एक गिलास मट्ठा पीनेकी तबियत हो रही थी। पण्डितजीको मालूम था कि गाँववाले भलेमानुस होते हैं। खास करके विद्वान् साधु-ब्राह्मण पण्डितोंको देखकर खूब सत्कार करते हैं।

इस पण्डितको अब गाँवकी स्त्रियोंके सामने अपनी खूब विद्वत्ता दिखानी है। साथ-साथ मट्ठा भी वसूल करना है। अधिक विद्वत्ताका प्रदर्शन करेंगे तो गाँवकी स्त्रियाँ कुछ समझेंगी भी नहीं इसलिए एक घरमें पहुँचकर पण्डितजीने एक स्त्रीको कहा—'अस्माकम् 'छाछ' पिलाओ!'

'छाछ'का माने मट्ठा है। उस स्त्रीने इन्हें संस्कृतका विद्वान् समझकर जल्दीसे बढ़िया मट्ठा ले आकर पिलाया। पण्डितजीका काम हासिल हो गया।

जिस किसी उपायसे अपना कार्य हासिल करना पण्डितोंकी बहादुरी है। इसलिए कहा भी गया है–

घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा गर्दभारोहणम्।
येनकेन प्रकारेण सिद्धो भवति पण्डितः।।

अर्थात् घट फोड़के हो या कपड़ा फाड़के; यानी घटपटके विचार द्वारा हो अथवा गधेपर सवार होकर ही हो, जैसे भी हो, पण्डित लोग अपना कार्य पूरा करके प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं।

●

हृदयग्रन्थिभेद

प्रश्न–'हृदयग्रन्थि–भेदकी बात उपनिषद्में है। क्या है वह? हृदयग्रन्थि किसे कहते हैं?'

उत्तर–कहीं प्रत्यगात्मा एवं बुद्धिके तादात्म्यकी हृदयग्रन्थि कहा है तो कहीं आत्मा एवं शरीरके तादात्म्याध्यासको हृदयग्रन्थि कहा है। और, कहीं–कहीं कामको ही हृदयग्रन्थि कहा है। इन सब अध्यायोंकी जड़ अहंकाराध्यास है। अतः यह 'अहं' ही मूल हृदयग्रन्थि है। 'चिदाभास' ही है यह 'अहं'। इसमें आभासत्वअंश मिथ्या है और 'चिदंश' मात्र 'सत्य-मैं' है। इसको जानना ही 'हृदयग्रन्थिभेद' है। इस अहं (मैं)के भीतर ही सत्य वस्तु छिपी हुई है। जैसे 'रज्जु–सर्प' के सर्पमें ही रज्जु छिपा है। इसलिए एक सूफी कविने लिखा है–

तू ही मैं बीच छिप रहा है,
'मैं' की शिकल बनाय के।
हुन् मैं नु गुम कित्तोई,
अपना आप जनाय के।।

अर्थात् –तू माने तत् पदार्थ; मैं माने अहं। अहंके अन्दर ही तू–परमात्मा छिपा है, इस अहं रूप सकल बनाके। अब मैं इस अहंको गुम कर देता हूँ, अपने स्वरूपको जानकर।

इसपर एक श्लोक बनाया है; सुनो–

अहं भावो विशिष्टो हि कर्ता भोक्तेति मन्यते (जीव)।
अहं भावोपहितस्तु तत्तद् भावो न लिप्यते (साक्षी)।।

●

सूफी चतुरदास

इनकी एक टुक सुनो–

अदल शहर बीच तेरी मेरी शकल बराबर हसि।
तू महरम असि मुजरूम यह क्या कहर पाइयासि।।

'अदल' माने अदालत=विचारगृह।
शकल माने रूप। बराबर=समान।
हसि=है। महरम=ईश्वर। असि=मैं।
मुजरूम=पापी, गुनहगार। कहर=कैसी बात?

अर्थात्–'हे परमात्मा! इस देवरूप न्यायशालामें तुम्हारा और मेरा रूप तो एक–सा ही प्रतिभास हो रहा है। तुम बने ईश्वर, नियामक और मैं हो गया गुलाम, ताबेदार, गुनहगार! यह कैसा विचार है? यानी, वस्तुतः तुम और मैं एक ही है। ईश्वर नियामक, जीव नियम्य। इस तरहका सम्बन्ध कल्पनामात्र है।

●

भिक्षु स्वामी शंकरानन्द

भिक्षु स्वामी शंकरानन्द ने मुझे एक दिन अचानक अपनी उस खण्डहर कुटियाके भीतर बुला लिया। वे टाट बिछे चबूतरे पर और मैं नीचे धरती पर बैठ गया। उन्होंने मुझे सावधान करके कहा कि तुम स्वयं शुद्ध-बुद्ध सच्चिदानन्द-घन अद्वय तत्त्व हो। नारायण! तुम चाहे सफेद कपड़ेमें रहो या लालमें, घरमें या बाहर, यह निश्चय कर लो कि मैं जीव नहीं हूँ। यह जीवत्व तो देहाभिमानको नष्ट करके देहातिरिक्तत्वको समझानेके लिए है। कोई चिज्जड़-ग्रन्थि नहीं होती और अचित् नामकी कोई वस्तु भी नहीं होती। कुछ चमत्कार-सा ही हुआ, जब उन्होंने यह कहा कि यह मैं तुम्हें भागवत सुनानेकी दक्षिणा दे रहा हूँ। तब तो मेरा निश्चय और दृढ़ हो गया। क्योंकि भागवतके अनुसार ज्ञान-सन्देश ही दक्षिणा है। आप आश्चर्य करेंगे कि उस दिनके पश्चात् मुझे यह भ्रम कभी नहीं हुआ कि मैं जीव हूँ।

आनन्दकानन प्रेस